पूर्णता की ओर

श्रीमद्भगवद्गीता पर आधारित जीवन की संरचना तथा
सार्वभौम एकता की योग-पद्धति का विश्लेषण

लेखक :

स्वामी कृष्णानन्द

भाषान्तरकर्त्री :

सुश्री प्रकाश अग्रवाल

प्रकाशक :

दिव्य जीवन सङ्घ,
पो० शिवानन्दनगर, वाया-ऋषिकेश,
जिला-टिहरी-गढ़वाल, (उ० प्र०), हिमालय।

डिवाइन लाइफ सोसायटी के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द जी द्वारा प्रकाशित तथा उन्हीं के द्वारा योग-वेदान्त फारेस्ट एकैडेमी प्रेस, शिवानन्दनगर, जिला टिहरी-गढ़वाल (उ०प्र०), हिमालय में मुद्रित ।

प्रथम (हिन्दी) संस्करण — १९७३
(४००० प्रतियाँ)

—: प्राप्ति स्थान :—
शिवानन्द पब्लीकेशन लीग,
डिवाइन लाइफ सोसायटी,
पो० शिवानन्दनगर,
जिला—टिहरी-गढ़वाल, (उ० प्र०),
हिमालय ।

पूर्विका

मानव-जीवन क्रमिक उपलब्धियों की प्रक्रिया कहा जा सकता है तथा इस प्रक्रिया की प्रत्येक गति उस आदर्श की ओर बढ़ता चरण है जो हमें इङ्गित द्वारा अपनी ओर बुला रहा है। ब्रह्माण्ड की समस्त सत्ताएँ, इस एकमात्र नियम के, महत्तर उपलब्धियों के लिए प्रयत्नशील होने के नियम के अधीन हैं। महत्तर को पाने के इस प्रयत्न में सुख मिलता है। यह ठीक ही कहा गया है कि व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व उसके वर्तमान में कभी नहीं हुआ करता। वह तो सदा उसके भविष्य की सम्भावनाओं में रहता है। हम पूर्ण रूपेण वर्तमान में नहीं रहते। जो कुछ भी हम करते हैं उसमें भविष्य का भी कुछ अंश अन्तर्हित होता है; अतः हम स्वयं को केवल वर्तमान में ही सीमित नहीं कर सकते। इसका आशय है कि चाहे प्रच्छन्न रूप से हो, हम भविष्य में उपलब्ध होने वाले उस आदर्श से स्वयं को एक कर देते हैं जिससे हमें पर्याप्त सन्तोष मिलने की आशा रहती है। यदि 'भविष्यत्' 'वर्तमान' में अन्तर्हित न हो तो आशा का कोई स्थान नहीं रह जाता। हम आश्वस्त नहीं रह पाते, सदैव कर्त्तव्य के समक्ष होने का बोध

करते रहते हैं—यह इस बात का पर्याप्त सङ्केत है कि हम 'भविष्यत्' से लिपटे हुए हैं; परन्तु चूँकि 'भविष्यत्' 'वर्तमान' की चेतना में निहित नहीं हो सकता; अतः यह कहना भी सत्य नहीं है कि हम पूर्णतः 'भविष्य' में रहते हैं। 'वर्तमान' काल *(Time)* का केन्द्र-स्थल है, अतः वह 'वर्तमान' से परे नहीं छलाँग सकता। हम भविष्य की आशा कर सकते हैं; परन्तु उसमें रह नहीं सकते। जीवन सदैव वर्तमान है।

यदि 'भविष्यत्' में 'वास्तविक' सन्तोष पाना असम्भव हो और बिना भविष्य के हम रह भी न सकते हों तो ऐसी स्थिति में हमारे जीवन में तनाव या विषमता दिखायी देती है। वर्तमान और भविष्य के बीच, हमारे आज के कार्य और भावी आशाओं के बीच, युद्ध का नाम जीवन है। काल में 'वर्तमान' और 'भविष्यत्' मिल नहीं सकते; लेकिन फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अपौरुषेय तत्त्व है जो मानव-बुद्धि का अतिक्रमण कर दोनों को किसी प्रकार एक साथ जोड़ देता है। इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि वर्तमान और भविष्यत् का कभी भी संयोग नहीं होता। यह सब एक प्रकार से तर्कसङ्गत नहीं लगता; परन्तु तर्क ही सर्व नहीं है और विज्ञान ही सब कुछ नहीं है। हमें जो सम्भावना दिखायी देती है, उसी में समस्त ज्ञान निःशेष हो जाय, यह आवश्यक नहीं। हम नहीं समझ पाते कि वर्तमान

कठिनाइयों और भावी आकांक्षाओं में किस प्रकार सामञ्जस्य करें। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम कोई ऐसी वस्तु चाह रहे हैं जो हमारे वर्तमान में प्रत्यक्ष नहीं है—और किसी वस्तु से अनजान रहने पर हमें प्रसन्नता का बोध होता है। क्या हम मूर्ख नहीं हैं जो असम्भाव्य को पाने का प्रयास कर रहे हैं? लगता है हम उस काल से ही जूझ रहे हैं जिसने वर्तमान को भविष्य से पृथक् कर दिया है। हम जो चाहते हैं वह वर्तमान और भविष्यत् का पृथक्करण नहीं, प्रत्युत एकीकरण है। हमारी आत्माएँ उसके लिए पुकार करती हैं जो 'काल' में नहीं दिया जा सकता। हमारे में 'कुछ' ऐसा है जिसका स्पष्टीकरण काल नहीं कर सकता, क्योंकि वह 'कुछ' कालातीत है। जो पूछता है वह मानव नहीं है, अतः मानव-मन इस महायुद्ध का वैशिष्ट्य नहीं समझ सकता। इस अधिकाधिक माँग का अन्त कहाँ है? इसका अन्त काल में नहीं है। काल तो जिस प्रकार क्षितिज का कोई अन्त नहीं है उसी प्रकार अन्तहीन है। ज्यों-ज्यों हम क्षितिज के निकट जाते हैं वह हमसे दूर हटता जाता है। इसी प्रकार भविष्य के मर्म की खोज का हम चाहे जितना प्रयत्न करें, चाहे इसके लिए हजारों वर्ष जीयें, हम सफल नहीं हो सकते। क्या फिर हम इससे यह निष्कर्ष निकाल लें कि हमारे भाग्य में केवल आशा बाँधना और सङ्घर्ष करना ही है, पाना कुछ नहीं है? क्या हमारी यही नियति है, अका-

रण कष्ट झेलना ? अथवा जीवन का कुछ अभि-प्राय भी है ? हमारे अन्तर में कोई कहता है —जीवन का महत्व है। वही हमसे इतना परि-श्रम करवाता है। जीवन सचमुच एक महान् आश्चर्य है !

हम फिर क्या पाने की आशा कर रहे हैं ? विवेकपूर्वक विचारा जाय तो हमारा यह प्रयत्न व्यर्थ की खोज लगेगा। अभी तक जितना जीवन यापन किया है, यदि उसमें हमें कुछ भी ऐसा प्राप्त नहीं हुआ जो महत्व का हो, तो इसका क्या निश्चय है कि भविष्य में ही उससे कुछ मिलने वाला है। मन, मनोविज्ञान और तर्क की दृष्टि से मानव-जीवन में खोज का यही परिणाम निकलेगा। कुछ अंशों तक यह ठीक है; परन्तु कुछ ऐसा भी है जो सर्वथा भिन्न सत्य की उद्घोषणा करता प्रतीत होता है। कुछ है जो उपर्युक्त निष्कर्षों में से किसी से भी सहमत नहीं हो सकता। हमारे भीतर से एक कालातीत आत्मा बोलती प्रतीत होती है। वह काल को चुनौती देती है, और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा अस्तित्व कालातीत है। 'वर्त-मान' को 'भविष्य' के सङ्ग एक करने में तभी तक कठिनाई है जब तक हम 'काल' में रह रहे हैं। काल में जो कुछ है, सभी झूठी आशा बँधाने वाला है। वह जो वचन देता है, कभी पूरा नहीं करता। वह अनन्त ही 'काल' के छद्मवेश में प्रतीत होता है और ऐसा भान होने लगता है कि हम जो स्वयं

को और दूसरों को दिखायी देते है, उससे हमारे में कहीं कुछ अधिक है। हम मानव-मात्र नहीं हैं और न हमारे सम्वन्ध केवल सामाजिक हैं। दूसरों से हमारा सम्वन्ध, हमारा नाम, वय, ऊँचाई, भार आदि हमारा वास्तविक विवरण नहीं है; क्योंकि हमारे अन्तर के शाश्वत से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे अन्तर का शाश्वत उसकी माँग करता है जो काल के भीतर है ही नहीं। हमारी इच्छा पूर्ण हो गयी और भविष्य को वर्तमान में साकार कर लिया—इस मिथ्या सन्तोष के लिए हम अपने जीवन में कृत्रिम समायोजन करते हैं। आशा पूर्त्ति तभी सार्थक होती है जव वह वर्तमान से, जो चेतना का गुण है, एक हो। जन साधारण प्राय: शिकायत करते हैं कि 'हमने इतना त्याग किया, किन्तु हमें उसका कोई प्रतिफल नहीं मिला। अत: इन सव से क्या लाभ ?'

किन्तु चित्र का यह एक पहलू है। हमारी वाह्य परिस्थितियाँ प्राय: अनाकर्षक दिखायी देती हैं, यह सत्य का एक अंश है और उसे इस धरातल पर स्वीकार करने तक ही हमारी वुद्धि सीमित नहीं है। जीवन की वेदना, भीतरी व्यक्तित्व और वाह्य परिस्थितियों में कुसामञ्जस्य के कारण होती है। हम समायोजन करते हैं, परन्तु सदैव सही तरह से नहीं करते। सही कार्य करते हुए भी गलत जा सकते हैं। हममें से अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो उचित कार्य को अनुचित ढङ्ग से करते हैं।

केवल त्याग करना पर्याप्त नहीं है, उसे ज्ञानपूर्वक करना चाहिए; किसी वाह्य लाभ हेतु नहीं प्रत्युत समायोजन-कला से मिलने वाले सुख के लिए। विज्ञान किसी साध्य का साधन हो सकता है, परन्तु कला नहीं। कला का साध्य कला ही है। आत्म-समायोजन *(Self-adjustment)* एक कला है और जब वह पूर्णत्व तक पहुँचता है तब योग कहलाता है। सर्वतोमुखी समायोजन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भी योग में परिणत हो जाता है। इसका प्रथम चरण अनन्त पूर्णत्व का सङ्केत करता है; अतः वह समस्त ऐहिक ज्ञान का अतिक्रमण कर लेता है। भगवद्गीता के अनुसार यही योग है।

हमारे अन्तर में जो कालातीत तत्त्व है, यह सामञ्जस्य उसके दृष्टिकोण से करना होगा। जीवन में सामञ्जस्य करने में हम जो त्रुटियां करते हैं उसका कारण है कि हम केवल व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित होकर सोचते हैं, हमारे अन्तर में जो अपौरुषेय तत्त्व है, उसे ध्यान में नहीं लाते। यह देह या व्यक्तित्व नहीं है जो समायोजन के रूप में त्याग करता है, प्रत्युत 'मैं' है—साधारणतः मनोवैज्ञानिक जिस अर्थ में समझते हैं, उससे भी गहरे अर्थ में। चेतन, अवचेतन और अचेतन स्तरों पर इसे सर्वाधिक प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। कालातीत सत्य साधारण मनोविज्ञान के उपकरण द्वारा पकड़ में नहीं आ सकता; क्योंकि ये साधन लौकिक हैं जबकि अन्तर की सत्ता आत्मिक है।

आत्मिक सत्य, जो 'मैं' है, अपने मूलभूत तत्त्व में अन्य सत्ताओं से अविभेद्य है। यद्यपि शरीर-रचना और सामाजिक परिस्थितियों के कारण हम परस्पर भिन्न हैं, परन्तु स्वभावतः हममें भावात्मक एकता है। हमें जो सामञ्जस्य करना है, वह गीता के योग की कला है, जिसे हमारी प्रशिक्षित बुद्धि के लिए भी ग्रहण करना अत्यन्त कठिन है, और कुछ नहीं, 'काल' की अपेक्षा आन्तरिक सत्य के दृष्टिकोण से स्वयं को सार्वभौम परिवेश से एकात्म होने का सामान्य कार्य है। यह आङ्गिक *(Organic)* समायोजन है, यान्त्रिक जुड़ना नही। यान्त्रिक समायोजन वह है जो हम प्रायः सुख-प्राप्ति की आशा में करते हैं। आङ्गिक सामञ्जस्य योग है। हम वहुधा चाहते हैं कि हमारे व्यक्तित्व के कुछ पक्ष व्यक्तियों से छिपे रहें और कुछ ही पक्ष ऐसे हों जो हमारी इच्छानुसार वाहर प्रकट हों और अन्य व्यक्तियों से सम्वन्धित हों। यह गलत है और यही यान्त्रिक समायोजन है। एक गूढ़ नियम है जिसे हम भूल जाते हैं। वह हमारे अनजाने में ही हमारी आन्तरिक व्यक्तिकता को दूसरों की आन्तरिक व्यक्तिकताओं से संयुक्त करता है। यह स्वतः स्फूर्त अभिज्ञान का आन्तरिक कार्य ही आन्तरिक स्वतः बोध *(Prehension)* कहलाता है। आन्तरिक स्वतः वोध *(Prehension)* वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम स्वतः ही ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं से सम्वन्धित हो जाते हैं। वौद्धिक वाह्य

बोध *(Apprehension)* चेतना-स्तर पर एक बाहरी कार्य है जबकि स्वतः बोध अवचेतन वृत्ति से भी गहरा है। उसमें ऐसा कुछ नहीं, जो दूसरों से गुप्त रखा जाता हो; क्योंकि हम सर्वदा दूसरों से सम्बन्धित रहते हैं। जब आभ्यन्तर की स्वतः बोधपरक क्रियाएँ वाह्य बोधपरक *(Apprehensive)* क्रियाओं का विरोध करती हैं, तब मानसिक तनाव उत्पन्न होता है।

हमारा एक आन्तरिक व्यक्तित्व है, एक वाह्य है। हम प्रायः वाह्य व्यक्तित्व को उजागर करते हैं और आन्तरिक को गुप्त रखते हैं। हम वाह्य व्यक्तित्व के द्वारा त्याग करते हैं। आन्तरिक अभिवृत्ति स्वार्थपर होते हुए भी हम वाह्य आचरण में स्वार्थहीन दिखायी दे सकते हैं। इस प्रकार हम स्वयं से ही जूझ रहे हैं। मानव-जीवन की व्याधि केवल वाह्य समाज की व्याधि नहीं, प्रत्युत व्यक्तिगत रूप से हमारी सब की है। हम प्रायः दूसरों का परीक्षण करने में व्यस्त हैं, स्वयं अपना परीक्षण नहीं करते। हमारी आज की शिक्षा-प्रणाली संसार की बाहरी घटनाओं के अध्ययन से सम्बन्ध रखती है, आन्तरिक सत्य से नहीं। हम कभी भी स्वयं को अध्ययन का विषय नहीं बनाते। विषयी (द्रष्टा) सदैव विषय (दृश्य) ही रह जाता है। जब तक सम्पूर्ण *(Integral)* प्रकार की शिक्षा नहीं दी जायेगी तब तक मानवता के कष्ट समाप्त नहीं होंगे। हमारे स्वयं में और वहिर्जगत् में तथा हमारे

बहिर्व्यक्तित्व और आन्तरिक व्यक्तित्व में परस्पर सहानुभूति होनी चाहिए।

यह योग है - दूसरों के सङ्ग अपने सम्बन्धों में तथा स्वयं अपने में शान्ति स्थापित करना! योग-पद्धति आत्मोत्कर्ष के आरोह-क्रम द्वारा इस आन्तरिक तादात्म को ही सघन करने के लिए है। जीवन-मूल्यों के कुसामञ्जस्य तक ले जाने वाली अज्ञानता के अतिरिक्त हमारे में अन्य कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती। हमें उचित वस्तु की उचित विधि से खोज करने की कला सीखनी होगी। जीवन नैतिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक रूप में इसी उचित विधि से खोज करने की कला की शिक्षण-प्रक्रिया है। स्वयं अपने में, समाज और जगत् में सदैव शान्तिपूर्वक रहने का अर्थ है उन शाश्वत मूल्यों की उपलब्धि जो समस्त अस्तित्व को अनुप्राणित करते हैं। इस ज्ञान की ओर हम कर्मठतापूर्वक अग्रसर हों!

प्रवेश

जीवन सत्ता के प्रति प्रयत्नान्वित गतिशील स्थिति है। प्रत्येक मानव के अन्तर की यह स्वाभाविक लगन उसकी स्थायी विशेषता है। इसे इतिहास के माध्यम से देखा जा सकता है। प्रयत्न और सङ्घर्ष आदर्श रूप में मान्य उस साध्य की प्राप्ति हेतु होते हैं जो अधिकांशतः वर्तमान क्रिया-व्यापार की सत्यता का भविष्य बना रहता है। इतिहास में वर्णित मानवता का विभिन्न क्रिया-क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् उपलब्धियों के लिए बहुमुखी सङ्घर्ष इस बात का द्योतक है कि जीवन उस जीवात्मा की अशान्ति से ग्रस्त है जो कर्म के बन्धनों और बुद्धि की सीमाओं का अतिक्रमण करने को उत्सुक है।

जीवन-सङ्घर्ष कम से कम अपने निम्नतम स्तर पर भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी और मृत्यु-भय-रूपी उन सभी कठिनाइयों को जीतने का प्रयत्न करता रहता है जो सामान्य जीवन की सर्वदा नित्य सहचर रही हैं। जीवन की परिसीमाओं के इन लक्षणों ने कभी परिवर्तन नहीं जाना, वे सदैव ज्यों के त्यों रहे हैं। आशा भी नहीं है कि उनमें कभी परिवर्तन होगा या उनका अन्त हो जायगा। मानव सदैव स्वयं अपने तथा वाह्य जगत् के विषय में अधिका-

धिक जानने की उत्सुकता से आक्रान्त भी रहा है। उसकी ज्ञान-प्राप्ति की यह पिपासा भी अब तक अपनी सीमा तक नहीं पहुँची। इतिहास की समस्याएं जीवन की समस्याएं हैं जो सर्वदा, चाहे व्यक्ति कहीं भी हो और कुछ भी हो, समान रहती हैं।

अवाञ्छित रूप में पड़ने वाले इस दबाव से उत्पन्न अशान्ति से बचने के लिए मानव इन समस्याओं का समुचित समाधान तथा उपयुक्त उपायों और विधियों से उनका सामना करने के साधनों के विषय में नाना प्रकार से सोचता रहता है। जन्म से मृत्यु तक उन कठिनाइयों से सङ्घर्ष करने के प्रयत्नों की यह अन्तहीन शृङ्खला उसे सुख-शान्तिपूर्ण निर्भीक जीवन यापन से वञ्चित करने वाली प्रतीत होती है; परन्तु उसके ये प्रयत्न अन्ततः कुछ अर्थ नहीं रखते, क्योंकि जो समस्याएं उसे शताब्दियों पूर्व आक्रान्त कर रही थीं वे उसके लिए आज भी उसी प्रकार की हैं। बड़े से बड़े साधन द्वारा भी व्यक्ति ने भूख-प्यास और गर्मी-सर्दी के आक्रमणों तथा मांगों से मुक्त होने में सफलता नहीं पायी। वह निरन्तर चिन्ता और भय की स्थिति में भी रह रहा है। अपने स्वयं के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मकता की भावना तीन कारणों से होती है। वे कारण हैं: प्रकृति, अन्य जीवधारी, तथा वह स्वयं। व्यक्ति के अपने भीतर मनोग्रन्थियां और व्याधियां विकसित हो सकती

हैं। इस संभाव्य स्थिति से पूर्णरूपेण कोई भी मुक्त नहीं हो सकता। शिक्षा की उच्च सीमा तक पहुँच जाने पर भी जीवन के मूलभूत तथ्य उसके मस्तिष्क पर भार बने रहते हैं। मृत्यु-भय अवश्यम्भावी है जो व्यक्ति को किसी भी क्षण विक्षिप्त कर सकता है। मृत्यु-भय का अवसर तीन कारणों से आता है : स्वयं अपने द्वारा की हुई त्रुटियों द्वारा, बाहर से किसी अन्य द्वारा आक्रमण होने के कारण, तथा प्राकृतिक प्रकोप के परिणाम-स्वरूप उपस्थित आपत्तियों द्वारा। यद्यपि मानव-कौशल ने नैतिक और राजनैतिक प्रणाली के आधार पर सामाजिक नियम और प्रशासकीय पद्धतियाँ बनायी हैं; परन्तु फिर भी उक्त समस्याओं का कोई उपचार नहीं है। मानव-निर्मित वस्तुएँ कभी भी चिरस्थायी नहीं रही हैं। जिसका आदि था उसका अन्त भी हुआ है। जिसने जन्म लिया है उसने मरना भी है।

लेकिन यह भयावह वातावरण मानव को विरोधी शक्तियों से टक्कर लेने में किसी स्तर पर रोक नहीं सका। उसे ऐसा तो प्रतीत हुआ कि उसके समस्त प्रयत्न क्षितिज को उसकी परिधि से परे धकेल देने के प्रयत्न के समान व्यर्थ और परिणामहीन हैं; परन्तु उसपर भी मानव-आशाएँ कभी समाप्त नहीं हुई और न होंगी ही। उसके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि में बुद्धि के घेरों को तोड़ने और उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करने तथा समस्त वस्तुओं पर अधिकार कर लेने की सामर्थ्य

का एक सङ्केत रहता है। सम्पूण इतिहास में चाहे यह कार्य उसने कभी न किया हो; परन्तु प्रत्येक वस्तु पर असीमित प्रभुत्व पा लेने को उसकी आकांक्षा का साक्षी स्वयं इतिहास है। इतना ही नहीं, मानवाकांक्षा इससे भी गहराई में उतर कर विश्व को अधिकृत करने तथा स्वयं ही उसका उपभोग करने की तीव्र लालसा बन जाती है। प्रयत्न और कार्यशीलता में छिपा हुआ यह एक महान् मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवनों में उसके प्रयत्न के प्रत्येक स्वरूप के पीछे शक्ति के प्रयोग की, वस्तुओं पर अधिकार करने की तथा आनन्दोपभोग करने की इच्छा का स्पष्टतः गुप्त उद्देश्य रहता है, परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस प्रयत्नशीलता में लक्ष्य दृष्टि से ओझल हो जाता है और प्रयत्नशीलता ही प्रधानता पा लेती है। अतः किसी न किसी प्रकार साधन में ही साध्य की भ्रान्ति हो जाती है। यह स्पष्टतः एक विडम्बना है। यात्रा के श्रम को ही यदि गन्तव्य-स्थल पर पहुँचने का आनन्द समझने की भूल कर बैठें तो इससे बड़ा दुर्भाग्य कुछ नहीं। कार्य की नाना विधाओं द्वारा सजग और अन्वेषणात्मक प्रक्रिया अपनाने पर भी मनुष्य मानवता में समान रूप से पायी जाने वाली इस सामान्य भूल का --प्रक्रिया को ही लक्ष्य समझ लेने का—परिहार नहीं कर सका। व्यक्ति के समस्त क्रियाशीलन में

निरन्तर बनी रहने वाली इस त्रुटि का कारण आत्मानुभव के 'रूप' और 'सत्त्व' (Content) में अन्तर न पहचान पाना है। 'आकार' किसी साहसिक कर्म या क्रियाशीलन में निहित प्रयत्न और श्रम के समान है तो 'सत्त्व' उपलब्धि का तुष्टि-तत्त्व है जो प्रक्रिया में अदृष्ट रहते हुए भी अन्तर्व्यापी है। यह सत्य है कि मानव रोटी के लिए सङ्घर्ष करता है और उसका अधिकांश जीवन इसी के उपार्जन के उपायों की खोज में व्यतीत हो जाता है, लेकिन दुर्भाग्य से उदर-पूर्त्ति की इस आवश्यकता को भ्रान्तिवश जीवन में उपलभ्य अत्यावश्यक साध्य समझ लिया जाता है। जीविकोपार्जन का प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है। जीवन यापन के योग्य हो जाने का सन्तोष एक विलक्षण प्रकार का सन्तोष हो जाता है। भोजन, वस्त्र, आवास तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपरिहार्य समझी जाने वाली जीवन की अन्यान्य सुविधाओं की खोज का यही (तुष्टि-प्राप्ति) उद्देश्य है। लेकिन जब तक 'रूप' में 'सत्त्व' को नहीं ढूँढा जायगा तब तक जीवन सर्वदा परिस्थितियों और दुर्भाग्य का निराशापूर्ण और कभी न समाप्त होने वाला सङ्घर्ष ही बना रहेगा। विचित्र कठिनाइयों का बोध मानव-चेतना के धरातल पर नहीं होता, परिणामतः वह आजीवन विषमताओं से जूझता तथा दुःख भोगता रहता है। जीवन की प्रक्रियाओं में अन्तर्हित 'आशय' की खोज दर्शन है और अपने जीवन में दर्शन को कार्यान्वित कर लेना योगाभ्यास है।

अनुक्रम

पृष्ठ

पूर्विका ... (पाँच)

प्रवेश —

मानव-प्रयत्न के प्रकार—जीवन की प्राथमिक समस्याएं—प्रयत्न और आकांक्षा का निहितार्थ। (चौदह)

सत्ता की संरचना —

आभ्यन्तर साधना के रूप में योग की विशेषता—चैतन्य का विवेचन—राजनीति, समाजशास्त्र, शिक्षा, प्रवृत्ति जनक आवश्यकताएं, मनोविज्ञान, प्राणिक आवेग (चालना), दार्शनिक विश्लेषण और आध्यात्मिक अनुभव के क्षेत्रों से होते हुए चैतन्य की ऐक्य की ओर की गति ३-३१

परम की ओर अग्रसरण ...

श्रीमद्भगवद्गीता : पूर्णता के विभिन्न स्तरों तक चेतना के आरोहण के विज्ञान के रूप में—आत्मा की तमसावृत रात्रि—उद्बोधक बुद्धि—जीवन-संग्राम—समष्टि और व्यष्टि—अवतार

पृष्ठ

—विराग की अवस्था—आत्मनिविष्टता और ध्यान—विश्व का विस्तार—जगतातीत आत्मा—ईश्वर : सखा और रक्षक—ईश्वर : अन्तर्यामी के रूप में—सार्वभौम सत् के रूप में ईश्वर ३२-४७

व्यक्तिगत और सामाजिक सन्दर्भ में—

साधना-विधि—आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन—चैतन्य एवं जड़ (पदार्थ)—निरपेक्ष ब्रह्म—शक्ति के रूप में पदार्थ—पुरुषोत्तम—द्वन्द्वातीत—जीवन के प्रति सम्यक् अभिवृत्ति—मनुष्य के तीन कर्त्तव्य—बुद्धि, निर्णय, इच्छा-शक्ति, भावना और कर्म में अनुपात ४८-५९

ज्ञान का सामाजिक जीवन पर प्रभाव—

व्यक्तियों को बनाने वाली अन्तिम शक्तियों द्वारा निर्णीत मानव-सम्बन्ध—सामाजिक संरचना—समाज के निर्माण के उपादान : आध्यात्मिक शक्ति, राजनैतिक शक्ति, आर्थिक शक्ति और मानव-शक्ति—संयम, इच्छापूर्ति, तपश्चर्या और आध्यात्मिक सिद्धि : परम सत्ता तक पहुँचने के लिए व्यक्तिगत विकास के सोपान—कर्त्तव्य तथा उसकी निष्पत्ति। ६०-६६

उपसंहार— ६७-६८

पूर्णता की ओर

पूर्णता की ओर

सत्ता की संरचना

योग का पथ पूर्णता तक पहुँचाने की दिशा की ओर यात्रा है। जीवन के इस आभ्यन्तर मार्ग पर चलने को उत्सुक साधक प्रायः अतिशय उत्साही होते हैं और सही दिशा में उन्हें जो पग बढ़ाने हैं उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने में वे असमर्थ रह जाते हैं। भावावेश की तीव्रता में अकस्मात् यह मान लिया जाता है कि जीवन का ध्येय भगवद्-प्राप्ति है और उन्हें जो कुछ करणीय है वह है स्वयं को अहर्निश भगवान् की उपासना, उसके नाम-जप, महिमा-गान आदि में लगाये रखना। यद्यपि आध्यात्मिक जीवन-यापन की आदर्श पद्धति यही है और दैनिक जीवन में व्यक्ति से इसी की प्राप्ति का प्रयास करने की अपेक्षा की जाती है तथापि सही मूल्याङ्कन के उपरान्त ज्ञात होता है कि उनकी यह धारणा अस्पष्ट और भ्रामक है। जीवन-यापन की यह विधि वाह्य रूप से जितनी सरल प्रतीत होती है उतनी सरल नहीं है। योग का अभ्यास सामरिक कार्य-प्रणाली जैसा ही होता है। महाभारत की प्रसिद्ध उक्ति,

'योगयुक्त संन्यासी और युद्धरत योद्धा ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं,' प्रमाणित करती है कि योगाभ्यास उतना ही बहुमुखी और जटिल प्रक्रम है जितना युद्ध-क्षेत्र में सैन्य-सञ्चालन। जिस प्रकार एक सैनिक मरने की अपेक्षा विजय वरण के विचार से ही युद्ध-क्षेत्र में उतरता है उसी प्रकार योगी उपलब्धि की सफलता के लिए कृत-सङ्कल्प होकर योगाभ्यास आरम्भ करता है, असफलता या पश्चगति की सम्भावना से पूर्ण सन्दिग्ध मन से नहीं करता।

सामरिक तथ्यों के ज्ञाता सेनाध्यक्ष की शत्रु-सेना के अग्रभाग पर आक्रमण करने की भावना चाहे अन्त में होती हो; परन्तु प्रारम्भ में ही वह तुरन्त ऐसा नहीं कर सकता। इस अन्तिम मुठभेड़ के लिए अनेकों तैयारियाँ करनी पड़ती हैं। सेनाध्यक्ष को अपने पक्ष के सैन्य-उपकरणों के परिमाण से तथा सैनिकों के नैतिक बल से परिचित होना होता है। उसे युद्ध छिड़ने के उपरान्त सम्भावित आपत्कालीन परिस्थिति के लिए पहले से ही पर्याप्त साधन जुटाने पड़ते हैं। इसी विधि से उसे शत्रु-सेना की शक्ति का अन्दाजा भी लगा लेना पड़ता है। उसे अपने पक्ष के सहायकों की प्रकृति के साथ ही साथ शत्रु-पक्ष के सहायकों की प्रकृति का भी ज्ञान होना चाहिए। उसे सर्वोपरि शत्रु की शारीरिक, सामरिक नीति और युद्ध-सम्बन्धी शक्ति के प्रति सजग रहने के अतिरिक्त शत्रु की उस रण-

नीति से भी आद्यान्त भली-भाँति परिचित होना चाहिए जिस नीति के शत्रु द्वारा अपनाने की सम्भावना हो, साथ ही उस नीति से भी जिसके, उसने स्वयं प्रयोग करने की योजना बनायी हो।

योग का मार्ग जोखिम और सङ्कटों से पूर्ण है; अतः यदि योग का कोई नौसिखुआ यह कल्पना करे कि ईश्वर को वह ध्यान करने की उस इच्छा मात्र से पा सकता है जो उसे सम्प्रति काल में उत्तेजित किये रहती है तो यह उसकी नितान्त भूल होगी; क्योंकि जिस समय विरोधी शक्तियाँ प्रलोभन-शरों का निक्षेप करती तथा अनेक प्रकार के भय दिखाती हैं उस समय यह उत्तेजना ठण्डी भी पड़ सकती है। बिना किसी तैयारी के अचानक चक्रव्यूह में घुस जाने की अपेक्षा पूर्वविधान तरीकों द्वारा स्वयं को सजग रखने के लिए कुछ समय ले लेना अधिक उचित है।

जिस ध्येय की प्राप्ति व्यक्ति चाहता है वह उससे कहीं दूर नहीं है। इस चामत्कारिक सत्ता के सर्वत्र और सबमें होने के कारण उसके साक्षात् अनुभव में कठिनाई होती है। जो सर्वत्र व्याप्त है प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि वह कहीं नहीं है। अधिकांशतः चेतना व्यापार की त्रुटियाँ मानव की सबसे गम्भीर त्रुटियाँ होती हैं। अपनी स्वयं की त्रुटियाँ दूसरों के मुखड़ों पर दिखायी देती हैं। जो दुर्बलताएं और बुराइयाँ व्यक्ति में स्वयं में विद्यमान हैं दूसरों की

उन्हीं दुर्बलताओं और बुराइयों से वह घृणा तथा आलोचना करता है। यह एक ऐसी व्याधि है जिससे सहज ही कोई बच नहीं पाता। चोर का उद्विग्न अन्तःकरण उसे प्रति-पल अशान्त बनाये रखता है; अतः वह दूसरों पर पूर्ण विश्वास नहीं कर पाता और सन्देह करता रहता है। योग के अध्येता भी इससे कुछ उत्तम स्थिति में नहीं हैं। मानव-दुर्बलताएँ उन्हें छोड़ नहीं सकतीं। राजनीतिज्ञों, योद्धाओं, शासकों तथा राज्यों और संस्थाओं के प्रधानों की त्रुटियाँ भी व्यक्तियों की ही त्रुटियाँ हैं फिर चाहे वे विद्वान् हों, शिक्षक हों, व्यापारी हों अथवा सत्य के शोधक ही क्यों न हों। सार्वभौम नियम सर्वत्र क्रियाशील है, उसके विधान से कोई भी नहीं बच सकता है, वह सभी पर लागू होता है। चेतना की त्रुटि को संसार की त्रुटि मान लिया जाता है और यही विश्व-समस्याओं का बीज है।

यदि ईश्वर एक है तो निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है;* ऐसे अनुभव के अन्वेषक को स्वाभाविक रूप से उसी सत्ता के अन्तर्गत सम्मिलित होना चाहिए। यदि ऐसा है तब अन्वेषण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? खोज या उपलब्धि के प्रयत्न का विचार मात्र ही स्वयं चेतना के विभक्त होने का परिणाम है।

---

*[इस सिद्धान्त के दार्शनिक प्रमाण के लिए लेखक की संस्कृति और अभ्युदय *(Resurgent Culture)* पुस्तक दृष्टव्य है।]

औषधि के खोज की आवश्यकता रोग के पहले से ही वर्तमान होने के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है; अन्यथा उपचार की कोई आवश्यकता ही न होती। खण्ड में चैतन्य के पहले से ही अन्त-र्भूत होने के कारण चैतन्य का यह स्वयं में ही विभक्त होना पहचाना नहीं जा सकता। चेतना, यदि इस प्रकार अन्तर्भूत न होती तो समस्या को ढूँढना सरल हो जाता। समग्र रूप में मानवता जैसी शताब्दियों पूर्व थी आज भी वह उससे कुछ अच्छी दशा में नहीं है, जिसका कारण यही है कि उसकी त्रुटियों को खोजा नहीं जा सकता और दुर्भाग्य के कारण त्रुटियाँ भी उसकी स्वयं की चेतना में हैं। एक क्षण तो ऐसा दिखायी देता है कि इस विचित्र-सी स्थिति का कोई समाधान नहीं है; परन्तु समाधान उपस्थित भी होता है तो एक अन्य वैचित्र्य के साथ, जो कदाचित् समस्या से भी अधिक विचित्र होता है। मानव की इस सर्वजनीन समस्या का यह विलक्षण समाधान जीवन का महान् तत्त्व-दर्शन *(Philosophy of life)* है। इस जीवन-दर्शन में सम्यक् रूप से दीक्षित हुए बिना कोई भी योग का सफल अध्येता नहीं हो सकता।

चेतना सर्वत्र व्याप्त है। इसके सार्वभौमिक होने के कारण समस्या भी विश्व के प्रत्येक कोने से, जीवन के प्रत्येक स्तर से, क्रियाशीलन के प्रत्येक क्षेत्र से उपस्थित होती है। कुछ भी हो, इस

समस्या को सुलझाने के लिए अत्यन्त सावधानी और सुनिश्चित युक्ति द्वारा एक व्यवस्थित कार्य-विधि अपनानी होगी। सामान्य विधि है, बाह्य से आभ्यन्तर की ओर चलना और फिर आभ्यन्तर से क्रमशः सार्वभौम की ओर उठना। इस विधि के अपनाने का कारण वह चेतना है जो तत्वतः सार्वभौम है; परन्तु सङ्कल्पनागत-प्रत्ययगत वैयक्तिक केन्द्रों में अवस्थित होने के पश्चात् धीरे-धीरे बाह्योन्मुख हो संसार की भौतिक सत्ता की विषयपरक स्थितियों के संज्ञान *(Percepts)* में निहित हो गयी प्रतीत होती है। सत्य की मूल अवस्था की ओर लौटने हेतु चेतना के निम्नतर रूपों में अवरोहण-प्रक्रिया को व्यवस्थित रूप में क्रमशः परावर्तित करना होगा। मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से तटस्थतापूर्वक विश्लेषण करने पर हम अनुभव करते है कि हमें किसी व्यक्ति या वस्तु द्वारा कष्ट नहीं होता, बल्कि व्यक्ति और वस्तुओं के सम्बन्धों में अन्तर्भूत चेतना की कतिपय अवस्थाओं से होता है। अतः विश्व-स्थिति और विश्व-समस्याओं का विश्लेषण अन्ततः विषयत्व से आवेष्टित व्यापक चेतना का विश्लेषण है।

चेतना की इस संश्लिष्टता के निम्नतर प्रकार को राजनैतिक चेतना कह सकते हैं। राजनैतिक चेतना से हमारा अभिप्राय है व्यक्तियों में सङ्गति लाने के लिए बनाया हुआ यान्त्रिक सम्बन्धों का जाल। विकास के प्रत्येक सोपान पर विरोधी स्थिति से

ऊपर उठकर अनुकूलता की स्थिति में आने का प्रयत्न होता है। इस प्रकार की मानव-चेष्टा का रूढ़तम रूप है राजनैतिक विषमता से उठकर राजनैतिक अनुकूलता तक पहुँचना। जो युद्ध छेड़े जाते हैं उनके मूल में भी राजनैतिक स्थायित्व और अनुकूलता लाने की भावना ही रहती है; परन्तु यह अन्तिम प्रयत्न है और उस समय किया जाता है जिस समय मानवीयता पर आधारित पारस्परिक सद्भावना और सहयोग के लिए वचनबद्धता आदि अपेक्षाकृत अधिक सामान्य उपाय व्यर्थ हो जाते हैं।

राजनैतिक चेतना मानवीयता के स्तर से ऊपर नहीं उठती; क्योंकि उसका आधार-बिन्दु वैयक्तिक अथवा व्यक्ति-समूह की दृष्टि से मानव-जाति की प्रत्यक्ष आसन्न आवश्यकताएं होती हैं; परन्तु प्रत्यक्ष सदैव वास्तविक नहीं होता। जो कुछ नेत्रों से दिखायी देता है, वास्तविक मनुष्य उसके पृष्ठ में होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय समता की सम्भावना का आश्वासन देने वाले राष्ट्रों के राजनैतिक सम्बन्ध सदैव ही मानव-मन को, जो आज भी अरक्षा और चिन्ता की दशा में है, सन्तुष्ट नहीं कर पाते। जिस प्रकार काँच के टुकड़ों को गोंद से चिपका देने पर भी समूचा काँच नहीं बन सकता, उसी प्रकार राजनैतिक समता भी किसी क्षण भङ्ग हो सकती है; क्योंकि राजनैतिक चेतना के विभक्त रूप वस्तुतः संयुक्त नहीं हुए हैं, केवल उस सीमेंट की

शक्ति से अस्थायी रूप में जुड़े हुए हैं जिसने उन्हें एक साथ चिपका दिया है। इस एकता की अस्वाभाविकता सुस्पष्ट है।

चेतना इस क्रिया-व्यापार से ऊपर उठने के लिए पुनः सङ्घर्ष करती है और हम देखते हैं कि व्यक्ति इस राजनैतिक जीवन से थककर राजनैतिक क्रियाओं की अपेक्षा सामाजिक कार्य या सामाजिक सेवा को, मानव-स्वभाव की सत्यता के और निकट ले जाने वाला साधन मानकर अपना लेते हैं। चेतना की यह प्रगति अब एक सोपान आगे तक आभ्यन्तरणता *(Inwardisation)* के प्रति उन्मुख दिखायी देती है, परन्तु असन्तोष का अन्त यहाँ भी नहीं है। जिस प्रकार शक्ति की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए राजनैतिक प्रशासकों का एक ही दिन में आकस्मिक पतन, उनके राजनैतिक रूप में किये गये समस्त दाँव-पेचों के भ्रम का परदा हटा देता है, उसी प्रकार की स्थिति सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की भी है। वे भी सुखी नहीं रह पाते। भुक्त भोगी होने के कारण एक दिन वे भी अनुभव करते हैं कि समाज को कभी भी सुखी नहीं किया जा सकता। वह कुत्ते की पूँछ के समान है जिसे सदैव सीधा नहीं रखा जा सकता। राजनीति के क्षेत्रों में दिखायी देने वाली त्रुटियाँ एक बार यहाँ पुनः पुरानी बोतल में नयी शराब की तरह दृष्टिगोचर होती हैं। जनता की चाहे कितनी ही सेवा की जाय उसे सुखी नहीं बनाया जा सकता। अतः

जिसने स्वयं को समाज-सेवा के लिए अर्पित कर दिया है वह भी अन्त में अपने प्रयत्नों की व्यर्थता देखकर स्तब्ध रह जाता है। इसका कारण है व्यक्ति का सुख, जो कुछ उसे बाहर से प्राप्त है उसपर उतना निर्भर नहीं करता जितना उसपर निर्भर करता है जिसे वह व्यक्तिगत रूप से अपने मन और अपनी भावनाओं में अनुभव करता है। मन पर वाह्य घटनाओं और वस्तुओं का प्रभाव मन की तात्कालिक स्थिति के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। जिनका हृदय मनोवैज्ञानिक विषमताओं से व्यथित है, उनके लिए चाहे स्वर्ग ही पृथ्वी पर क्यों न उतर आये, वे सुखी नहीं हो सकते। लेकिन इसके विपरीत व्यक्ति जब अपने से सम्बन्धित समुदायों में होते हैं तब वाह्य क्षेत्र में कैसी ही अव्यवस्था हो, यदि वह अव्यवस्था उनके उस सन्तोष में बाधक नहीं है जिससे वे अपने समस्त जीवन को सम्पृक्त करते हैं तो उनका वह आनन्द उस अव्यवस्था की नितान्त उपेक्षा कर देता है। यदि कोई सद्व्यवहार करता है, भलाई करता है तो वह सदैव स्मरण नहीं रहता; परन्तु उसकी छोटी-सी भूल कभी विस्मृत नहीं हो पाती। मानव जैसा भी है, उसने अनेक बार स्वयं को वन्य नियमों को मानने वालों से कहीं अधिक अविश्वसनीय प्रमाणित कर दिया है।

अनिश्चित काल के लिए न कोई किसी से सन्तुष्ट रह सकता है न मित्रता ही निभा सकता

है—इस अकाट्य स्थिति के विस्मयजनक तथ्य का बोध व्यक्ति को वयस्क हो जाने पर होता है। और जब इस ज्ञान का उदय होता है, मनुष्य नितान्त आत्मपरक कलाओं और विज्ञान को जीवन का एकमात्र साध्य मानकर उनका आश्रय ले लेता है। ज्ञान को केवल ज्ञान-तुष्टि हेतु प्राप्त करने के लिए मनुष्य स्वयं को विद्वत्समाज अथवा रसायन-शालाओं में निबद्ध कर लेते हैं। उनका सारा ध्यान ज्ञान की विविध शाखाओं के अध्ययन और शोध-कार्य में लगा रहता है। इस प्रकार कला और विज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में हमें विलक्षण प्रतिभाएँ तथा सार्वजनिक वक्तृत्व की कला में पारङ्गत व्यक्ति प्राप्त होते रहे हैं। ऐसे व्यक्ति वास्तव में बड़े आदरणीय रहे हैं। ऐसा लगता है कि उनके ज्ञान की सीमा से आगे जो अनन्तता प्रसारित थी वह उनके व्यक्तिगत आनन्द का उत्स रही है। अध्ययन और अध्यापन निरापद सुख हैं; परन्तु यह सब होते हुए भी ये प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् अपने समक्ष फैला हुआ एक अज्ञात का अनन्त विस्तार देखते हैं। ऐसा कोई बिरला ही होगा जो इस दृढ़ विश्वास के साथ अन्तिम श्वास लेता होगा कि उसने जो वास्तव में जानने योग्य था, जीवन का वह रहस्य जान लिया है।

सत्य का अन्वेषक जिस आत्म-पथ पर चलता है वह पथ भी उन व्याधियों से रहित नहीं है जो मानव-जीवन के इन स्तरों की विशेषताएँ हैं। चाहे

कोई सत्य की प्रकृति का निष्कपटतापूर्वक अन्वेषण करने के लिए ही अध्यात्म-क्षेत्र में प्रवेश करता हो, परन्तु जो मानव-पक्ष स्वयं को राजनीति, समाज-शास्त्र और विद्वत्परिषदों जैसे जन-सम्पर्क और एकान्तिक आशाओं के माध्यम से प्रकट करता है, वही मानव-पक्ष व्यक्ति के अनजाने में उसके प्रयत्नों के अन्तर्गत रिसता रहता है। मानव-स्वभाव में सामान्यतः पाये जाने वाला यह गुण उन व्यक्तियों को भी सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध और उसके आकर्षणों के अधीन कर देता है जिन्हें ऐसा भान होता है कि उन्होंने ईश्वर का आह्वान सुन लिया है। परिणामतः वे या तो राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में नेतृत्व-पद धारण कर लेते हैं या फिर स्वयं को जटिल ग्रन्थों के अध्ययन में निमज्जित कर पाण्डित्य को ही अपनी जीवन-वृत्ति बना लेते हैं। सच्चे साधक के पथ में ये चीजें ऐसे प्रच्छन्न शत्रु हैं जो उस क्षण समक्ष आ प्रकट होते हैं जिस क्षण वह व्यावहारिक जगत् की कृत्रिम तुष्टियों में उलझी अपनी चेतना को पहचानने के लिए पर्याप्त रूप में सतर्क नहीं रहता। जीवन-पथ पर चलते हुए प्रयत्नपूर्वक विचार और अनुभव करने के उपरान्त ही ऐसा होता है कि व्यक्ति इन सभी समस्याओं की केन्द्रीय धुरी-रूप मानव की मनोवैज्ञानिक संरचना से टकरा जाता है।

यही वे अनुभव से प्रबुद्ध *(Seasoned)* जीवात्माएं हैं जो पूर्णता के सम्बन्ध में बहिर्मुखी खोज

से थककर आन्तरिक तपस् अथवा समाज और अहं तत्त्व-कृत वाह्य बिखराव, विघटन से अपने समस्त व्यक्तित्व को संयमित कर लेने जैसी आन्तरिक साधना में प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मसंयमन के इस प्रयत्न में अन्तर्शक्तियों का उद्घाटन हो जाता है; परन्तु प्रारम्भ में जो शक्तियाँ वाह्य धरातल पर आती हैं वे कामेच्छा, धन का लोभ, नाम, यश और अधिकार की लिप्सा तथा ललित कलाओं के आकर्षण के प्रति प्रच्छन्न भावप्रवणता जैसी निम्न व्यक्ति-मूलक लालसाएं होती हैं। धरती की बहुत गहराई में निधि चाहे छिपी हो, परन्तु ऊपरी धरातल के खोदने पर नेत्रों से जो दिखायी देता है वह तो चोट पहुँचाने वाले कङ्कड़ और आंखों में पड़ने वाली धूलि ही होती है। चेतना पुनः इस स्थिति से एकात्म हो जाती है अतः अवाञ्छित क्षेत्र में पतन की आशङ्का एक बार फिर होने लगती है। आत्मसंयमन के प्रयत्न में जब मन पर दबाव पड़ता है तब वह ऐसी शक्तियां उन्मोचन करता है जिनकी रुझान ऐन्द्रिक विषयों की ओर होती है। प्रायः देखा गया है कि जो लोग मन को ढीला छोड़ने की अपेक्षा उसे नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं, उनके जीवन में पूर्व विचारों और पूर्व वृत्तियों की ओर परावर्तन के अवसर अधिक आते हैं। परि-तुष्ट शत्रु की अपेक्षा असन्तुष्ट शत्रु के आक्रमण करने की सम्भावना अधिक होती है। नाम, यश, अधिकार और भौतिक उपलब्धियों के माध्यम से

भगवत्प्रेम-प्रवाह सरलतापूर्वक चल सकता है। सच्ची साधक आत्माओं में से भी अधिकांशतः इसी पथ पर चलती हैं। इसका मुख्य कारण अविवेक तथा निरपेक्ष भाव से स्वयं को समझ लेने की अपनी क्षमता को वास्तविकता से अधिक आँकना है। उनके इस प्रयत्न का अन्त या तो दैहिक दमन में होता है जो तब तक चलता रहता है जब तक शारीरिक मृत्यु नहीं हो जाती (भ्रमवश इसे ही योगाभ्यास समझ लिया जाता है) या फिर अभिरुचियों के ऐन्द्रिय और अहंवादी तृप्तियों के मार्ग पर बहक जाने में होता है।

संसार ऐसे व्यक्तियों के अनेकानेक दृष्टान्तों से भरपूर है, 'जो कुछ नहीं जानते, परन्तु जानते नहीं कि वे कुछ नहीं जानते।' कुछ लोग फिर भी उनसे अधिक सौभाग्यशाली हैं 'जो जानते नहीं, परन्तु यह जानते हैं कि वे नहीं जानते।' ये ही व्यक्ति हैं जिन्हें उपदेशों और दृष्टान्तों द्वारा परित्राण पाने की आशा है। योग-पथ पर आरूढ़ ये अध्यवसायी आत्माएं अवसरानुकूल सजग हो ठीक अनुभव कर लेती हैं कि गड़बड़ी कहाँ है। वे इस रहस्य को भाँप लेती हैं कि मूल-प्रवृत्तियां, जो इन्द्रियों और अहं द्वारा व्यक्त होती हैं, मात्र दबाव डालने से वशीभूत नहीं हो सकतीं। रोग भी रोग दबाने वाली औषधियों से दूर नहीं होता। मूल-प्रवृत्तियां चेतना की उस आभ्यन्तर भूल के वहिर्मुख लक्षण हैं जो सदैव उसी में थे; परन्तु मूल-रोग के रूप में जिसका

निदान कभी न हो सका। उपवास रखना, जागरण करना, उग्र शारीरिक तप करना, इन्द्रियों और मन को क्षुधित रखना—निम्न कोटि की मूल-प्रवृत्तियों के आवेग का उपचार नहीं है। ये अभ्यास उन प्रवृत्तियों का केवल दमन करते हैं तथा जब वे प्रतिशोध-भावना से प्रकट होने के प्रयत्न करती हैं तो उन्हें और अधिक आक्रामक बना देते हैं। जिस समय मानव-मनोविज्ञान की यह विशिष्टता विदित हो जाती है और उसे उच्चतर आत्मविश्लेषण एवं विशुद्ध आध्यात्मिक चिन्तन की ओर मोड़ दिया जाता है—वास्तविक योग उसी समय आरम्भ होता है।

विषयों का अवलोकन करने वाली चेतना पर विषयों का आग्रह इतना अधिक होता है कि वह उनके गठन में अन्तर्भूत हो जाती है। चेतना और उसके विषयों के गुण और स्वरूप में परस्पर निर्धारण होता है। यह निर्धारण लगभग वैसा ही होता है जैसा दो विरोधी पक्षों में, जो एक दूसरे को इस प्रकार प्रभावित करते हों कि उनमें से कोई भी दूसरे के बिना स्वतन्त्र रूप में न सोच सकता हो न कार्य कर सकता हो। कुछ इसी अर्थ में हम संसार को सापेक्षिक व्यावहारिक जगत् कहते हैं। सभी प्रकार के अनुभवों में चेतना और विषय के ताने-बाने के रूप में क्रियाशील होने के कारण जीवन के चरम सत्य के सम्बन्ध में व्यक्ति सदैव ही व्यग्रता और अनिश्चयता का अस्थिर केन्द्र बना रहता है। जब तक

अनुभव में चेतना-पक्ष और वस्तु-पक्ष एक दूसरे से पृथक्-पृथक् रहेंगे और अपने-अपने दृष्टिकोण से स्वयं को सही समझेंगे तब तक मुक्ति, अमरता या शाश्वत जीवन सम्भव नहीं हो सकता।

योग का प्रयोजन यह दुरूह विश्लेषण और अनुभव उपलब्ध कर ऐसे निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना है जो सर्वकालिक हो। मानव-स्वभाव में प्रवृत्ति जन्य (*Instinctive*) क्रान्तिकारी आग्रह के होने का कारण चेतना पर विषयों का प्रभाव तथा विषयों में चेतना की अभिरुचि है। यह स्थिति अनुभव में इन दोनों तत्त्वों के परस्पर निर्भर रहने की विशेषता के कारण उत्पन्न होती है। यहाँ पर सचमुच बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जब व्यक्ति प्रयत्नशीलता के इस स्तर पर आता है तो योग-साधन वास्तव में बड़ा कठिन हो जाता है।

इस समय अनुभव होता है कि आध्यात्मिक मुक्ति और आनन्दमय जीवन साधारण मानव के क्षेत्र से परे हैं। बुद्धि के इस स्तर का अतिक्रमण करने के लिए जिस प्रशिक्षण की अपेक्षा होती है तथा उसमें जैसे तटस्थ आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता होती है उसके लिए वह शिक्षा, जिससे आधुनिक मानव परिचित है, किसी भी मूल्य की प्रमाणित नहीं होती—विशेषकर उस समय जब वह मानव अनुभव के मूल-प्रश्न की समस्या को सुलझाने लगता है। जिस समय हम जीवन के रहस्य को खोजने का महत् प्रयास आरम्भ करते हैं उससे पहले

ही अन्य व्यक्तियों और वाह्य जगत् के प्रति हमारी धारणा में मूलतः परिवर्तन की आवश्यकता है। इस स्थान पर हमारा सीखा हुआ ज्ञान, जो अधिकांशतः व्यक्तियों और वस्तुओं से सम्बन्धित होता है, किसी प्रकार भी हमारी सहायता नहीं कर सकता; परन्तु इस समय हमारे समक्ष जो महत्वपूर्ण कार्य है उसका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध व्यक्तियों या वस्तुओं से नहीं है। **सार्वभौम न्यायकर्त्ता** का दृष्टिकोण मानव-मन में सरलता से नहीं समा सकता। इस स्तर पर साधक नित्य के तप, संयम के अभ्यास को ही योगाभ्यास समझकर पुनः उन्हीं में लग जाता है। वह नहीं जान पाता कि अब भी वह उस गुह्य ज्ञान के लिए तैयार नहीं हो सका है जिसे पकड़ने की उसने अनेक बार चेष्टा की, परन्तु जो सर्वदा उसकी पकड़ से भाग निकला है। कठोपनिषद् कहता है, "यह परम ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) तर्क बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं होता।"* विश्व-राज्य में मानव-बुद्धि समर्थ नहीं होती—वह नहीं चल सकती।

परन्तु तीक्ष्ण बुद्धि जिस समय व्यक्तिगत अनुभव में छिपी इस सार्वलौकिक सीमा-भूमि से द्वन्द्व करती हुई सफल होती है, उस समय कुछ अन्य कठिनाइयाँ प्रकट होने लगती हैं। चेतनता और जड़ता की पारस्परिक मिथःक्रिया उष्णता, शीत, क्षुधा, तृषा, निद्रा और मृत्यु-भय की भावना जैसी

* 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'—(कठोपनिषद् : १-२-६)

तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है। ये प्राकृतिक आग्रह, जो प्रायः विकट नृशंसता का रूप धर लेते हैं, आगे की प्रगति में बाधक बन जाते हैं। दैहिक प्रकृति की इन माँगों से महासन्त भी पूर्णतः लोहा नहीं ले सकते।

व्यक्ति में उसकी भौतिकी-प्राणिक लिप्सा से प्रश्न उठते हैं कि 'करूँ या न करूँ ?' 'हो अथवा न हो ?' और साधक योगी अज्ञात प्रकृति के भय से घिर जाता है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण गौतम बुद्ध और ईसा मसीह जैसे उच्चतम महात्माओं के अनुभवों के विवरण से प्राप्त होते हैं। ये विभिन्न अवस्थाएँ हैं जिन्हें सभी को पार करना पड़ता है—इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। यहाँ पर पुनः एक अन्य समस्या आ उपस्थित होती है—पूर्णत्व की ओर उसकी प्रगति सदैव अविज्ञात और अस्पृश्य रह जाती है। इसका कारण है, प्रगति अथवा विकास, फल के विकास की भाँति, अन्तर की ओर से होता है; अतः वह सहज ही दृष्टिगोचर नहीं होता। जगने से एक मिनट पूर्व तक हम यह नहीं जान सकते कि हम जागरण के कहीं अति-निकट हैं। जिस समय जगते हैं तो सर्वदा अचानक ही जाग जाते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है। पूर्व सूचना के साथ जागरण बिरले ही आता है। आत्मोपलब्धि के पथ में बाधक मनोभौतिक आवेग इतने प्रचण्ड होते हैं कि महान् से महान् साधक को भी भयभीत कर देते हैं, जीवन-मरण की समस्या

बन जाते हैं और साधक नहीं जान पाता कि आगे जीवन है या मृत्यु ! ससीम और असीम की सीमा-रेखा पर यह ज्ञात और अज्ञात का भयावह युद्ध है ।

यह अनुभव उन अतिरिक्त कारणों द्वारा और भी प्रबल हो जाता है जो मानव के अनुभव पर देश, काल और गुरुत्वाकर्षण के तत्त्वों के रूप में भार डालते हैं । देश, काल और गुरुत्वाकर्षण के तत्त्वों का दखल अखिल सृष्टि की समस्त वस्तुओं में है । देश, काल तथा निमित्त समस्त अनुभवों के अन्तिम निर्णायक हैं । इन निश्चयनकारी तत्त्वों की भाषा में सोचने के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचा जा सकता । पूर्णत्व अथवा निर्विशेष ब्रह्म की हमारी सङ्कल्पना भी इनके हस्तक्षेप से मुक्त नहीं है । तथ्यतः अनुभव में चेतना और उसके विषयों का अङ्गीय (जैवी) रूप में परस्पर अन्तर्भूत होने का कारण भी देश-काल की प्रक्रिया है । आपस में एक प्रकार की सहमति-स्वरूप विषयों की ओर चेतना का झुकाव और चेतना की ओर विषयों का झुकाव देश और काल के एक साथ कार्य करते हुए एक ओर चेतना पर तो दूसरी ओर विषयों पर एक समान प्रभाव डालने के कारण होता है । यद्यपि तर्क की दृष्टि से देश और काल चेतना के विषय हैं और अङ्गीय अविच्छेद्यता के अर्थ में चेतना में अन्तर्निष्ठ नहीं कहे जा सकते; तथापि दोनों में ठीक उसी प्रकार की एक अविच्छेद्य एकता है

जैसी स्फटिक और रङ्ग में होती है। रङ्ग स्फटिक के पूर्ण कलेवर में झलकता है। यह समूची परिस्थिति चेतना और वहिर्भूत तत्त्व के बीच जैविक (अङ्गीय) *(Organic)* सम्बन्ध का गड़बड़ घोटाला प्रतीत होती है। वहिर्भूत तत्त्व देश-काल-निमित्त सातत्य है। फिर भी उपलब्धि की यह अवस्था मानव की सामान्य अनुभूति की उस दशा से भिन्न है जिस दशा में वह देश-काल को दृश्य विषयों की तरह वहिर्गत वस्तुएँ ही मानता है। अनुभव की यह बहुत प्रारम्भ की अवस्था होती है जो इस समय आगे बढ़कर ब्रह्माण्ड में फैली हुई वैयक्तिकता के विविध वाहकों के एकमात्र मान्य अन्तर्तत्त्व—सार्वभौम परिवेश में पदार्पण करती है।

देश-काल के माध्यम से जो वृत्ति कार्यशील है वह है सुनिश्चित बुद्धि और सम्मत ज्ञान। देश-काल के नियमों के मानव-चेतना में स्थायी रूप से बद्धमूल हो जाने के कारण प्रत्येक कालावधि में गणित और तर्कशास्त्र अपरिवर्तनशील नियमों से बँधे यथार्थ विज्ञान प्रतीत होते हैं। भौतिक विज्ञान भी, जो कार्य-कारण के नियमानुसार ही कार्यशील हैं, दिक्काल सातत्य ही की उपशाखाएँ हैं। हमारी चेतना इस दृश्य जगत् से परे नहीं जा सकती। इससे परे की निरपेक्ष ब्रह्म, अखण्ड विश्व और अमर आत्मा जैसी संङ्कल्पनाएँ दिक्काल-निमित्त सापेक्षता के जाल में फँस कर उनसे अनुरञ्जित हो जाती हैं। भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों के

भीतर पैठने और दिक्काल के जगत् का भेद जान लेने की चेष्टा की है; परन्तु इस प्रयत्न द्वारा भी विज्ञान को कोई स्थायी सफलता प्राप्त नहीं हुई। वैज्ञानिक अनुसन्धान ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पाँच स्थूल तत्त्वों के रूप में पदार्थ (जड़) और उनसे भी आगे बढ़ व्यूहाण्विक *(Molecular)* तथा आणविक *(Atomic)* संरचनाओं की पृष्ठभूमि में विद्युच्चुम्बकीय क्षेत्र की खोज करके स्वयं को ऊर्जाणु *(Quantum particles)* और तरङ्ग यान्त्रिकी *(Wave Mechanics)* में स्थापित किया और अन्ततः अनुसन्धान की यह क्रिया ब्रह्माण्ड के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त में समाप्त हुई। वर्तमान काल में विज्ञान को उपलब्ध यह ज्ञान वस्तुतः अद्भुत और सृजनात्मक एवं ध्वंसात्मक दृष्टियों से उपादेय है। यह मानव को चकित, विस्मित-सा करते हुए उसे स्थूल भौतिक-वादी विचारणा की सीमाओं से परे गोचर जगत् से उठाकर ब्रह्माण्डीय सापेक्षता के क्षेत्र में ले जाता है। यद्यपि ऐसा लगने लगता है जैसे इस सापेक्षिक अनुसन्धान ने मानवीय ज्ञान को अनन्तता की स्थिति में रोप दिया है; पर वस्तुतः उसने ऐसा कभी नहीं किया; क्योंकि भौतिक विज्ञान का ज्ञान वैशि-ष्टच भी दिक्काल सातत्य की अन्तिम पहुँच के बाहर नहीं है। इस स्तर पर सृष्टि-रचना के रहस्य के सम्बन्ध में आधुनिक भौतिकी और प्रगाढ़ अध्या-त्मवाद एकमत होकर लगभग समान निष्कर्ष पर

आ जाते हैं; परन्तु अभी भी इससे आगे कुछ है।

जिस पराकाष्ठा पर हम अब तक पहुँचे हैं उसके पीछे वास्तव में है क्या,—बौद्धिक तर्कों द्वारा इसे स्पष्ट करना कठिन है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि मानव को इसे जानने और इसमें प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। वह नहीं जानता कि अनुभव के इस स्तर पर चेतना पर पड़ी इस स्थूल यवनिका के दूसरी ओर क्या है! महान् दार्शनिकों, सन्तों और ब्रह्मविद् ज्ञानियों ने चेतावनी दी है कि इस विषय में जानने को अधिक उत्कण्ठित नहीं होना चाहिए। इस प्रश्न पर बुद्ध ने भी कुछ कहना स्वीकार नहीं किया। श्री भगवद्गीता इसकी महिमा का गान करती है तथा उपनिषद् इसकी भव्यता और गरिमाजनित भावावेश में निमग्न हैं। रहस्यवादियों ने पुकार-पुकार कर उद्घोषित किया कि यह एक ऐसा सम्मोहक अनुभव है जो आत्मा को चिरन्तन आनन्द से ओतप्रोत कर देता है। परन्तु इन रोमाञ्चित कर देने वाले विस्मयजनक ज्ञापन-सङ्केतों के अतिरिक्त मानवता उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती। निस्स्वार्थ चिन्तन के क्षणों में विरक्त आत्माएँ ही इस आश्चर्य की झलक प्राप्त करती हैं। उपनिषद् और विशेष कर भगवद्गीता कुछ सङ्केत और विधाएँ बताती हैं जिससे हम अपने विचारों और भावनाओं का समायोजन इस प्रकार कर सकते हैं कि उस सार्व-

भौम सत्ता के साथ सहानुभूति बनाये रख सकें जो सभी सत्यों की सत्य है तथा वह ध्येय है जिसकी ओर अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर समस्त सत्ताएँ समग्रता और परस्पर पूर्ण सहयोग के साथ उन्मुख होती हैं।

यही वह ज्ञान है जो दैनिक व्यवहार और आचरण में हमारा पथ-प्रदर्शक बन जाता है। विभिन्न अवस्थाओं में प्रव्यक्त सार्वभौम की भाषा में यह विशिष्ट को जाँचने और उसका निर्णय करने का नीतिशास्त्र है। हम जितना ही ऊँचा उठते जाते हैं विश्व का विस्तार उतना ही अधिक होता जाता है और इन्द्रियानुभव के जगत् में स्थूल विषयों अथवा वैयक्तिकताओं की जकड़ उतनी ही ढीली होती जाती है। उक्त विश्लेषण द्वारा विदित हो जायगा कि पारिवारिक, सामुदायिक, राष्ट्रीय और अन्त-र्राष्ट्रीय मण्डलों के विधान द्वारा बनी राजनैतिक प्रशासन की नींवें और संरचना इस बात का प्रमाण है कि उच्च से उच्च पारिवेशिक सङ्घटनों के भी आत्मिक एकता में परिवर्तित होने की आवश्यकता है—आत्मिक एकता जिसे कानूनी अनुशासनों तथा दिक्काल की जटिलताओं के मध्य वाह्याचरण के नियमों द्वारा पाने का मिथ्या प्रयास किया जाता है। राजनीति, दिक्काल की यान्त्रिकता जिसकी ओर सङ्केत पट्ट के अर्थ में इङ्गित करती है, उसे प्राप्त नहीं कर सकती। यह दिक्काल यान्त्रिकता ऐसी यवनिका का कार्य करती है, जिससे हम पता

नहीं लगा सकते कि उसके पीछे क्या है। इतिहास की गति प्रकट करती है कि जीवन अशान्त है, अतः वह अपेक्षाकृत अधिक सङ्घटित संस्थानों के माध्यम से शान्ति के संश्लिष्ट प्रयोजन की ओर प्रवृत्त होता है। इतिहास के युग-युग की घटना-प्रक्रिया के कारणों अथवा मूल प्रश्नों में पैठे बिना इतिहास का अध्ययन वैसा ही होगा जैसे मानव के अवयव-संस्थान की क्रिया-प्रणाली को शव-विच्छेदन द्वारा ज्ञात करना। और भी निकृष्ट उदाहरण दें तो कह सकते हैं जैसे सरिता-तरङ्गों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयत्न करना। समाजशास्त्र, नागरिक-शास्त्र, अर्थशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र इस तथ्य के प्रमाण हैं कि व्यक्ति का स्वयं में, अपने व्यक्तित्व में, शरीर में, इन्द्रियों में तथा विधि-अनुसारिणी बुद्धि में शान्ति पाना असम्भव है। संस्थाओं पर सहानु-भूतिपूर्ण व्यवहार और भौतिक पदार्थों पर निर्भरता, कला के प्रति समदृष्टि तथा साहित्य में अविकल सद्भावों की हमारी आवश्यकता इन सीमाओं का सङ्केत देती हैं। ये वस्तुएँ भी उन राजदूतों की तरह हैं जो किसी शक्ति के प्रतीक मात्र होते हैं; स्वयं वह शक्ति नहीं होते जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं। भोजन, धन-संग्रह, काम-तुष्टि, आधि-पत्य और नाम-ख्याति की प्रबल आकांक्षाएँ ऐसे आग्रह हैं जो व्यक्ति की सत्ता को अमर बनाने के लिए, विश्वजनीन बनाने के लिए अन्तर में अनु-भूत होते हैं। ये तथा इनके अतिरिक्त सत्ता की

समस्त वहिर्मुखता का अतिक्रमण करने वाली सर्वोच्च बनने की और विषयों में स्वयं को देखने तथा दिक्कालिक आत्म-सातत्य में उनसे एक होने की इच्छा भी दिक्काल-निमित्त विधान द्वारा वियुक्त सत्ताओं के सीमित क्षेत्र के प्रतिबिम्बित माध्यम में असीम को आरोपित करने के व्यर्थ प्रयास हैं। ज्ञान-पिपासा चेतना की मूलभूत असीमता की अभिव्यञ्जना तथा उसकी उस उद्विग्नता की सूचक है जो उद्विग्नता तब तक बनी रहती है जब तक आत्मसाक्षात्कार सम्बन्धित पठित ज्ञान आत्म-तत्त्व में अनुभूत नहीं हो जाता। व्यक्ति को निद्रा द्वारा जो शक्ति और प्रफुल्लता प्राप्त होती है वह इस बात की द्योतक है कि उस अवस्था में व्यक्ति अपने अनजाने ही एक ऐसी अखण्ड सत्ता में प्रवेश करता है जिसमें देश, काल और वहिर्तत्त्व का अभाव है। इस प्रकार निद्रा संरचनात्मक समानता द्वारा (परम) अनुभव की सङ्केतक है; यद्यपि प्रकार में वह अनुभव इससे सर्वथा भिन्न होता है। मृत्यु-भय व्यक्ति की मूल-सत्ता की अमरता प्रमाणित करता है। तत्त्वतः किसी की सत्ता का अन्त नहीं हो सकता। अतः सत्ता के अन्त की कल्पना मात्र भयावह होती है। जिस प्रकार ससीम की धारणा असीम की सम्भावना को, परिवर्तन की धारणा अपरिवर्तन की सम्भावना को और भेद की धारणा अभेद तत्त्व को प्रमाणित करती है, उसी प्रकार मरने की घटना के प्रति वीभत्सा आत्मा

की अन्तर्हित अमरता को प्रदर्शित करती है। देश-काल में अवस्थित प्रतीत होने वाले इन्द्रियजन्य ज्ञान *(Perception)* और मनस् जन्य ज्ञान *(Cognition)* में चेतना की युगपत् विद्यमानता प्रकट करती है कि विषय अपने विषयी से तत्त्व रूप में एक है। आधुनिक भौतिकी के विकास-चरण बताते हैं कि अपने अवलोकन करने वाले विषयी को भी अन्तर्निहित किये हुए यह ब्रह्माण्ड समरूपी ऊर्जा सातत्य का, अन्तर्व्यापिनी प्रणालियों और अनुभवों की विभिन्न कोटि के आन्तरिक स्वतःबोध *(Prehension)* और बौद्धिक वाह्य बोध *(Apprehension)* सापेक्ष दिक्काल सातत्य का नाम है, यह कि ब्रह्माण्डीय महत्व की परस्पर निर्धारण करने वाली परिस्थितियों का (जिन्हें भ्रमवश व्यक्ति या वस्तु माना जाता है) सब ओर से 'अन्तः प्रवेश' *(Ingression)* होता है; तथा यह कि इस समस्त परिदृश्य की ज्ञाता केवल अखण्ड चेतना हो सकती है, जो सार्वभौम हो, जो स्वयं को ही जानती हो, किसी अन्य को नहीं; क्योंकि उससे इतर कुछ भी नहीं है।

कला, विज्ञान, शिल्पशास्त्र आदि क्षेत्रों की शैक्षिक प्रणाली द्वारा ज्ञानार्जन के प्रयत्नों का प्रतिफल आत्म-चैतन्य की अधिकाधिक आभ्यन्तरता और समग्र अवबोधपरक *(Comprehension)* बृहत्तर आयामों के गुणात्मक विस्तार तक पहुँचने का प्रयास है। नैतिक सिद्धान्त अर्थात् आचार का नियम 'परम ध्येय' को मान्यता देने की आवश्य-

कता प्रकट करता है तथा व्यक्तियों को विषयों के रूप में न देखकर उन्हें एक प्रकार का आत्म-तत्त्व मानने का आग्रह करता है। यह एक ऐसी ज्ञानोपलब्धि है जिसकी सम्भावना विषय और विषयी के दिक्कालिक विभेद का अवरोध दूर होने के उपरान्त ही हो सकती है, नीति-संहिताओं द्वारा नहीं। नियम तो प्रत्येक वस्तु की मूल-सत्ता के रूप में अपेक्षाकृत अधिक व्यापक आत्म-तत्त्व के अस्तित्व की ओर सङ्केत मात्र है, स्वयं में समस्या का समाधान नहीं है। जन-सामान्य का औपचारिक धर्म विश्व के एक अंश की अपेक्षा 'समग्र' को खोजने की, उससे प्रेम करने की तथा उसकी आराधना करने की आवश्यकता का सूचक है। यह प्रवृत्ति मन की उस इच्छा में प्रव्यक्त होती है जिसके कारण वह अपने को पूर्ण रूपेण किसी वस्तु, विषय, ताबीज (यन्त्र), चित्र, प्रतीक, रेखाङ्कन (तन्त्र), प्रतिमा या स्वयं में ही रचित अधिकाधिक व्यापक सङ्कल्पना के ध्यान में निःशेष कर देता है। सभी प्रकार के धार्मिक उत्साह, प्रार्थना, उपासना और ध्यान द्वारा मानव की आपूर्ण सत्ता अस्तित्व की आपूर्णता चाहती है, परन्तु धर्म की इस औपचारिकता का अर्थ परम सत्य से युक्त होना नहीं है। वह सत्य तो सभी रूपों में आँख-मिचौनी खेलता है।

संसार से प्राप्त सेवाओं के बदले कृतज्ञता ज्ञापनार्थ मानव जो कुछ भी करता है, वह उसका

कर्त्तव्य कहा जाता है। भोजन, वस्त्र, आश्रय और शिक्षा के लिए वह अन्य मनुष्यों पर निर्भर रहता है। जल, ताप, प्रकाश, वायु और अपने स्वयं के अस्तित्व के लिए वह पञ्च-सूक्ष्म तत्त्वों (तन्मात्राओं) पर निर्भर करता है तथा अपने व्यक्तित्व और समाज की एकता के लिए प्रकृति में छिपी उन सूक्ष्म शक्तियों पर निर्भर करता है जो ग्रहों और तारामण्डल की कक्षीय गति को भी नियन्त्रित करती हैं।

बाहर से हम जितनी कम सहायता लेते हैं कर्त्तव्य के रूप में हमारी नैतिक बाध्यता और दायित्व उतना ही कम हो जाता है तथा अपेक्षाकृत उतने ही अधिक हम मुक्त हो जाते हैं। यह मुक्तावस्था उस समय प्राप्त होती है जब हम उच्चतर और सूक्ष्मतर की तुलना में, जो स्थूलतर और निम्नतर है उसे क्रमशः इतना अतिक्रम कर लेते हैं कि हमें बाहरी किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रह जाती और तब हम परम मोक्ष पा लेते हैं।

प्रथमतः स्वावलम्बन क्रमिक होता है जो अपनी परावलम्बी आवश्यकताओं को क्रमशः अधिकृत कर लेने से आता है। इसके उपरान्त प्राकृतिक शक्तियों तथा अपनी वैयक्तिकता की सीमा से मुक्ति की अवस्था आती है। जब यह उपलब्ध हो जाती है तब उसके उपरान्त परम मोक्ष प्राप्त होता है। इसे ही भगवत्प्राप्ति, ब्रह्मानुभव आदि कहा जाता है और यहां पहुँचकर न कुछ पाते हैं न खोते हैं; न कुछ जानने को रह जाता है न कुछ सीखने

को; न कोई चाह न कोई आकांक्षा और न ही कर्त्तव्य या कृतज्ञता ज्ञापनार्थ कुछ करना शेष रह जाता है।

राजनैतिक चेतना की अवस्था से परम चेतना *(Absolute)* तक सत्ता की एक समग्रता *(Wholeness)* से उठकर अन्य समग्रता तक, एक पूर्ण इकाई से दूसरी बृहत्तर पूर्ण इकाई तक जाना है। यह *समग्रता या समस्तता* अथवा सम्पूर्णता आत्मा का तात्त्विक गुण है, अतः उच्च से उच्चतर अर्थ में यह आत्मा से आत्मा में उत्थान है। विकास के किसी भी स्तर पर प्रदर्शित प्रेम अन्य किसी के प्रति न होकर आत्मतत्त्व की किसी अवस्था के प्रति ही होता है। कोरा विषय नितान्त वाह्यत्व है, जो कभी भी किसी के प्रेम का लक्ष्य नहीं बन सकता। यह उत्थान (आरोहण) आत्मा के अपेक्षाकृत अधिक यन्त्रकृत रूप से अङ्गीय स्वरूप में तब तक होता रहता है जब तक ये दोनों वर्ग ब्रह्म-तत्त्व में एक नहीं हो जाते। यन्त्रकृत और आङ्गिक रूप उस समय विघटित और परिशून्य होते हैं जिस समय विकास-प्रक्रिया में परिवर्तन होने के कारण उनके सङ्घटक पृथक्-पृथक् हो जाते हैं और तब केवल ब्रह्म है, अन्य सभी वस्तुएं इसकी ओर अभिमुख गति हैं।

परम के प्रति अभिमुख सत्ता की इस 'समस्तता' और 'पूर्णता' के उत्कर्ष के प्रत्येक स्तर पर ऐसे तत्त्वों से सम्पर्क होता है जो चेतना को उस स्तर-

विशेष के विषय-रूपों की ओर, वाह्यता की ओर खींचते हैं। ये चेतना को उलझाने वाले वे ही तत्त्व हैं जिनका विश्लेषण ऊपर हो चुका है। साधक को इनसे प्रयासपूर्वक बचकर रहना है। अतः योगमार्ग के साधक को जीवन के किन क्षणों में वे आत्म-चेतना की ठीक किस अवस्था में हैं, इसे जाँचते समय अत्यधिक सजग रहना होगा तथा ध्यान की उन पद्धतियों द्वारा, जिनका इन अनुच्छेदों में सङ्केत किया गया है, उस चेतना-स्तर से परम सत्य की निकटतम उच्चतर अवस्था में संक्रमण करना होगा।

परम की ओर अग्रसरण

महाभारत का नायक और गीतोपदेश का मनोवैज्ञानिक कारण अर्जुन जीवन-सङ्घर्ष का सामना करने वाला विशिष्ट व्यक्ति है। महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ में वर्णित उसकी स्थिति सत्य के प्रत्येक अन्वेषक की मनःस्थिति की प्रतीक है। शत्रुओं के संहार-हेतु युद्ध-क्षेत्र को प्रस्थान करने से ठीक पूर्व शत्रु-पक्ष का सामना करने को उसमें वीरोचित महा उत्साह, जोश और उमङ्ग है (१ : १३-२३); परन्तु जिस समय वस्तुतः ये क्षण निकट आते हैं उसकी भावनाओं में अप्रत्याशित परिवर्तन हो जाता है। इन महत्वपूर्ण क्षणों में देह, मन, प्राण तथा बुद्धि—सब बुरी तरह व्यर्थ हो जाते हैं (१ : २६-३१)।

अर्जुन के तर्क-वितर्क अध्यात्म-पथ के जिज्ञासु के तर्क-वितर्क भी हैं। यह मुख्यतः तीन प्रकार के हैं: प्रथम, हमारा अहित चाहने वाले ही सदैव विरोधी शक्तियाँ नहीं होते, प्रत्युत मित्र एवं परिजन होते हैं जिनके सङ्ग हमारा अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ है तथा जिनपर प्रहार करना जघन्य पाप होगा (१ : ३२-३७)। द्वितीय, सेना के साथ इस संग्राम में विजय मिलेगी ही, यह भी सन्देहास्पद है; क्योंकि युद्ध में कौन पक्ष विजयी

होगा, यह कोई नहीं जानता। सम्भव है संसार पर साधक विजय पा ले या संसार ही उसके साहसिक प्रयत्नों के कारण उसे पराजित कर रौंद डाले (२ : ६)। तृतीय, अपने पुराने हित-चिन्तकों, मित्रों तथा स्वजनों से—जिन्हें आत्मा के सङ्घर्ष में अब शत्रु माना जा रहा है—लड़ना या उनका विरोध करना हमारे अपेक्षित सामाजिक गठन को नष्ट करके मानवता के समक्ष एक बुरा उदाहरण रख सकता है (१ : ३९-४४)। कम से कम इन कारणों से आत्मा का संग्राम सन्देहपूर्ण मूल्यों और परिणामों का दुस्साहसी कर्म है।

अर्जुन द्वारा दिये गये ये तर्कपूर्ण उत्तर योग के उस साधक के मन को परेशान कर देते हैं जो ऐसे हितचिन्तकों और मित्रों के बीच रह रहा हो जिनका परित्याग अथवा विरोध अनुचित है (२ : ४, ५)। शङ्का होती है प्रयत्न के असफल हो जाने की। न्यूनातिन्यून जिन शक्तियों का उल्लेख किया जा सकता है उनमें से क्षुधा और तृषा जैसी शक्तियाँ उसके अस्तित्व को ही प्रताड़ित करने लगती हैं। इतना ही नहीं युद्ध के झञ्झावात में उन व्यक्तियों का और उस संसार का, जो हमारे साथ थे, हमारे हितैषी थे, सामना सरलता से नहीं किया जा सकता और न अनुताप-रहित हो उन्हें धराशायी ही किया जा सकता है। समाज-शास्त्रीय मन के इस सामाजिक तर्क का यथार्थतम प्रत्युत्तर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में दिया

है। वही अन्य अध्यायों में क्रमशः विस्तीर्ण होता हुआ अन्त में महा आध्यात्मिक रहस्य का उद्‌घाटन करता है। साधक में पैठे अर्जुन को तत्काल उत्तर मिलता है कि उसकी बुद्धि स्थिर नहीं है (२ : ११); व्यक्तिगत सम्बन्धों, भावनाओं और संवेगों के पूर्वाग्रह के कारण वह स्वजनों के पक्ष में है। ये सम्बन्ध, भावनाएं और संवेग ही मानव-दुर्बलताओं के लक्षण हैं। वस्तुतः सामाजिक मानव की बुद्धि स्थिर नहीं मानी जा सकती। कारण, उसके तर्क सदैव एकपक्षीय होते हैं। वह राग-द्वेष के, 'मेरे-तेरे' के क्षेत्र में, लाभ-हानि की भाषा में बोलती है।

साधक से जिस महत्तर बुद्धि की अपेक्षा की जाती है वह श्री भगवद्‌गीता में 'सांख्य-बुद्धि' है (२ : ३९)। इस बुद्धि का मनुष्य की उचित-अनुचित और सद्-असद् का अन्तर करने वाली बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि यह उत्तरोक्त बुद्धि इन्द्रिय और अहं की स्वार्थपरक वैयक्तिकता के पक्ष में कार्य करने वाली है। तब वह महत्तर बुद्धि कौन-सी है जिस पर श्रीकृष्ण हमें 'कुशल-कर्म' के योग को आधारित करने को कहते हैं (२ : ५०)? यह विवेक का विरलित सूक्ष्म रूप है जो इन्द्रिय-क्षेत्र में कार्य करने वाली तथा व्यक्तिगत तुष्टि के लिए तर्क करने वाली निम्न बुद्धि के अधीन होने के स्तर तक नहीं झुकता (२ : ४१)। यह महत्तर बुद्धि आन्तरिक आत्म-तत्त्व है और गम्भीर विरक्त

जनों में ही प्रायः परिलक्षित होती है; क्योंकि आत्मा का न कोई मित्र है न शत्रु, अतः उसका संग्राम किसी के पक्ष अथवा विपक्ष में नहीं होता (२ : ३८, ४५)। परन्तु जब उसे किसी वस्तु या व्यक्ति के लिए सङ्घर्ष-स्वरूप कहा जाता है तब वह उसी समय स्वभावतः किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु के विरुद्ध भी हो जाती है। धर्म-युद्ध के इसी गलत अर्थनिरूपण ने अर्जुन को हतोत्साहित कर दिया और यही प्रत्येक साधक को निराश, दुःखी और विषण्ण बना देता है। यह एक को लूट कर दूसरे को देने जैसा सङ्घर्ष नहीं, वरन् इस प्रकार का है जिसे मानव-मन सुगमता से पकड़ नहीं सकता और यही कारण है कि आत्मान्वेषण के इस आभ्यन्तर पथ पर विरले ही सफल होते दिखायी देते हैं। यह व्यक्ति या वस्तु से युद्ध करना नहीं, वरन् उस अधर्म से युद्ध करना है जो सांसारिक वस्तुओं के चरम उद्देश्य को विफल करने की चेष्टा करता है और इस प्रकार यह सङ्घर्ष आत्मा की आत्मा के प्रति नितान्त निर्वैयक्तिक अभिवृत्ति है (२ : ४८-५०)।

इस सांख्य-बुद्धि अर्थात् बुद्धिगत निर्वैयक्तिकता को प्राप्त करना तब तक कठिन है जब तक यह वहिर्जगत् विद्यमान है। इसकी विद्यमानता मात्र ही हमारे प्रयत्नों को निर्वैयक्तिक की अपेक्षा व्यक्तिगत बना देती है। जब तक वहिर्गत सत्य है निर्वैयक्तिकता नहीं आ सकती। यही एक महान्

समस्या है; परन्तु इन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निर्मित, वस्तुपरक सामान्य दृष्टिकोण के कारण यह, संसार के सङ्ग हमारे सम्बन्धों की गलत धारणा में बद्धमूल है (२:४३,४४)। इन्द्रियाँ वारम्बार वल देकर कह रही हैं कि जगत् उनसे बाहर है, अतः प्रदत्त सन्दर्भ के अनुसार उसके प्रति राग, द्वेष अथवा तटस्थता की अभिवृत्ति विकसित कर उससे इतर विषयवत् व्यवहार करना है। यह ठीक वही स्थिति है जिसका श्रीकृष्ण ने धारणा-विभ्रम में जड़ीभूत पूर्णतः अयुक्ति-युक्त स्थिति कह-कर खण्डन किया था। हर प्रकार के निर्णय स्वरूप व्यक्ति जो कुछ करने का सङ्कल्प करता है, वह सङ्कल्प प्रायः व्यक्तिगत होता है अर्थात् कभी वह परिवार के रूप में सोचता है तो कभी समाज के रूप में। व्यक्तियों के समूह भी व्यक्तित्व की मूल-भूत इकाई के गुणों से मुक्त नहीं हो सकते, अतः मानव-जाति का बृहत्तर प्रसार उसके विचारों को व्यक्तिगत अभिवृत्ति से अधिक ऊँचा नहीं उठाता। व्यक्ति अपने जिन विचारों को अपने समान धर्मा विचार वालों तक फैलाता है उनपर तथाकथित मानवीय दृष्टिकोण का पड़ा हुआ छद्मावरण सहज ही पहचाना जा सकता है। आवश्यकता है सीधे दृष्टिकोण में आद्यान्त परिवर्तन की, अपेक्षाकृत इसके कि एक व्यक्ति के दृष्टिकोण का विस्तार ही व्यक्तियों के बृहत्तर समूह का दृष्टिकोण बने। सत्यासत्य में अन्तर उनके गुण द्वारा होता है परि-माण द्वारा नहीं।

मानव की बाह्य रूपरेखा की अपेक्षा उसके दृष्टिकोण के गर्भितार्थ की पुनर्व्याख्या करने पर विदित होता है कि वस्तुओं के सम्बन्ध में जन साधारण की बनी धारणा गलत होती है; क्योंकि यह धारणा विषय-जगत् और द्रष्टा में मनोवैज्ञानिक पार्थक्य के कारण होती है। सत्य तो यह है कि इन्द्रियों की संरचना बाह्य जगत् के तानेबाने में बुनी है; अतः इन्द्रियानुभव के प्रति जो विशेष आग्रह होता है, वह अनावश्यक है। युद्धारम्भ के समय अर्जुन द्वारा प्रस्तुत सभी तर्कों में यही एक दुर्बल तथ्य है और यही दुर्बलता प्रत्येक क्षेत्र के प्रत्येक मानव में होती है। यहाँ तक कि विद्वान् और योग के साधक भी वस्तुओं और व्यक्तियों को नितान्त ऐन्द्रिक दृष्टिकोण से ही जाँचते तथा मूल्याङ्कन करते हैं। 'गुण गुण में सञ्चरित होते हैं (बरतते हैं)' (३ : २८)—यह अर्जुन के धर्म-सङ्कट का श्रीकृष्ण द्वारा सूत्रात्मक उत्तर है। इन्द्रियों का स्वरूप मूल-प्रकृति के इन गुणों से वैसे ही अनुशासित है जैसे इन्द्रियों द्वारा अनुभूत विषय अनुशासित हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक प्रक्रिया की वास्तविक स्थिति के विश्लेषण के इस परिपेक्ष्य में देखा जाय तो वस्तुओं की विवेचना से व्यक्ति की स्वयं की विवेचना पृथक् नहीं की जा सकती। सही विवेचना के गुणात्मक और गलत विवेचना के परिमाणात्मक रूप में यही अन्तर है।

यह ज्ञान रहस्यपूर्ण रचना के इस जगत् में सब

को भयभीत कर देता है और वे प्रयत्न से दूर हट जाते हैं; परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं—'बिना कर्म किये कोई एक क्षण नहीं रह सकता (३ : ५); प्रकृति की रचना ही उसे कर्म के लिए बाध्य कर देगी' (१८ : ५९)। प्रत्यक्षानुभव *(Perception)* की प्रक्रिया की जटिल व्यवस्था किसी को उसके कर्त्तव्य से नहीं रोकती। यह संज्ञान कर्म ही कर्मयोग है। इस शब्द का प्रयोग सभी प्रयत्नों के लिए, चाहे वे व्यक्तिगत हों अथवा निर्वैयक्तिक, भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक, लागू होता है। इस प्रकार कर्मयोग के नियम से किसी को निष्कृति नहीं मिल सकती। यह समस्त कर्मों और प्रक्रियाओं को, चाहे वे कर्म और प्रक्रियाएँ दिखायी देती हों या अदृश्य रूप में हो रही हों, समाविष्ट कर लेता है। इसका आशय है : जब युद्ध हो रहा हो तब युद्ध से पलायन न करके लड़ना और वह भी आन्तरिक सम्बद्धता की उस सांख्य-बुद्धि द्वारा जो बहिर्जगत और उसके द्रष्टा (चेतन तत्त्व) के मध्य परस्पर रूप में अव-स्थित है। परन्तु इस दिशा में किये गये प्रयत्न अतृप्य, पापप्रेरक, मानव के घोर शत्रु रजोगुण द्वारा उत्पन्न आवेश, इच्छाओं, काम, घृणा और क्रोध के व्याघात द्वारा विफल हो जाते हैं (३ : ३७)। परन्तु भय का कोई कारण नहीं है। इस काम का आधार इन्द्रियों, मन और बुद्धि के सम्मिलित क्रिया व्यापार हैं (३ : ४०) जिनके कारण व्यक्ति मति-भ्रान्त होकर बाह्य जगत् के सङ्ग अपने वास्तविक

सम्बन्ध को नहीं जान पाता और स्वयं को विषयों के प्रति राग-द्वेष में लगाये रखता है। सहकार्य-कर्तृत्व की इस ग्रन्थि का उन्मोचन अपने अन्तस् में इन्द्रिय-शक्ति का मनस् में, मनस् का बुद्धि में और बुद्धि का विश्वचेतना (परमात्मा) में उदात्तीकरण हो जाने से हो सकता है। संसार में जीवन की समस्त समस्याओं और तनावों का एकमात्र समाधान आत्मा में शरण लेना है (१८ : ४२, ४३)।

संक्षेप में यही भगवद्गीता का 'सांख्य' और 'योग' है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकटन में जिज्ञासु आत्मा को जो ज्ञान दिया जाता है, वह एक सीमा तक पर्याप्त होता है; क्योंकि इससे उसे जीवन की दैनिक प्रक्रियाओं में छिपे नवीन अर्थ का बोध हो जाता है। यद्यपि इस संसार में ऐन्द्रिय ज्ञान-जनित भूलों से दूर रहकर बुद्धिमत्ता के संग जीवन-यापन का यह एक सशक्त साधन है तथापि सर्वथा भिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान करने को यही ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इन्द्रियों को यह कौन सिखायेगा कि उनके द्वारा ग्रहीत ज्ञान के अन्तराल में यह तथ्य निहित है ? द्रष्टा स्वयं ही इन्द्रियों की सीमाओं में आबद्ध है, अतः उससे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इन्द्रियों को प्रबोधन दे अथवा उनकी विसङ्गत क्रियाओं पर अपना प्रभावशाली दबाव डाले। ऐन्द्रिय ज्ञान-व्यापार की उलझन और तनावों से विषय ग्रहण करने वाली चेतना को मुक्त करने के लिए वरिष्ठ

हाथों को सक्रिय होना पड़ता है। यह भगवान् के हस्त हैं जो परम सत्ता के अवतार-रूप में कार्य करते हैं। इस सत्ता का अनुभव सर्वत्र होता है। ऐसा कुछ नहीं है जिसे वह स्पर्श न करती हो और कठिनाई एवं सङ्कट के क्षणों में आवश्यक सहायता न देती हो (…'युगे-युगे') (४ : ८)। इस भागवत हस्तक्षेप का उद्देश्य विश्वपालक धर्म की स्थापना तथा धर्म के प्रतिकूल जाने वाली शक्तियों अथवा अधर्म का पूर्ण विनाश अथवा रूपान्तरण करना है (४ : ७)। प्रायः साधारण जन के अनजाने ही संसार में ईश्वर के क्रियाशील होने के इस सूक्ष्म रहस्य को जानने की अन्तर्दृष्टि योग-पद्धति की एक महान् प्रगति है। पूर्णत्व की ओर बढ़ते मानव में ज्ञान के इस नवीन आलोक का उदय होने पर वस्तुओं के प्रति सामान्य आसक्ति और मोह के बन्धन क्रमशः कट जाते हैं। श्रीभगवद्-गीता सङ्केत करती है कि योगाभ्यासी को इस भूमिका पर तीन महत्परिणाम प्राप्त होते हैं: 'समत्व' अर्थात् चैतन्य भाव का सन्तुलन तथा 'कौशल' अर्थात् कार्य करने की विशेष कुशलता जिसे योग कहते हैं; 'ज्ञान' अर्थात् इसका बोध होना कि ज्ञाता और ज्ञेय विषय और विषयी की भाँति दो स्वतन्त्र सत्ताएं न होकर एक पूर्ण इकाई के रूप में परस्पर सम्बन्धित संरचना (अंगी) हैं (४ : २४,३५); तथा एक ऐसी अन्तर्दृष्टि जिसके द्वारा अखिल विश्व ऐसी एकात्मकता के रूप में दिखायी देता है जिसमें पदार्थों की सार्व-

भौमिकता अखण्ड रूप (आत्मतत्त्व) में विद्यमान है (४ : ४१)।

गम्भीरतर ध्यानाभ्यास द्वारा चेतना के और आगे गतिशील होने पर अनायास ही विषय-विकारों से पूर्ण निःसङ्गता प्राप्त हो जाती है; यह वह उपलब्धि है जिसके लिए सांख्य और योग के व्यवहार की आरम्भिक अवस्थाओं में मानव को कठिन प्रयत्न करना पड़ता है। यहाँ पहुँचकर समस्त क्रियाएं स्वेच्छा और आयासहीनता की आवेशहीन लीला बन जाती हैं। वह जो योगयुक्त है, विशुद्धात्मा है, विजितात्मा है, जितेन्द्रिय है और सब में अपनी ही आत्मा को देखता है (सर्वभूतात्मभूतात्मा) वह सब कुछ करता हुआ भी निर्लिप्त होता है (५ : ७)। परन्तु इस प्रतिफल के लिए उसे वस्तु और व्यक्तियों के प्रति राग-द्वेष के आवेश पर नियन्त्रण करने के रूप में एक बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है (५ : २३)। इस उदात्त ध्येय-प्राप्ति का अन्य उपाय नहीं है। और यदि कोई व्यक्ति एक बार इस परम वैराग्य की अवस्था पर पहुँच गया तो वह ध्यानयोग द्वारा आत्मैक्य की उच्चतर उपलब्धियों के योग्य हो जाता है (५ : २७, २८)। यहीं पर प्रथमावस्था का बिखरा हुआ व्यक्तित्व शक्ति और ऊर्जा-केन्द्र पर एकीकृत और संयुक्त हो अविज्ञात की अतल गहराइयों को नापता तथा उसके उन्मुक्त आकाश की ऊर्ध्वतम ऊँचाइयों में उड़ान भरता है।

परम सत्ता को ग्रहण करने के लिए चेतना के इस ऊर्ध्व आरोहण का विधान, चेतना की समस्तर गति से भिन्न, निम्नात्मा को उच्च आत्मा की *कार्य-प्रणाली* द्वारा अधीन करना तथा उसका निर्धारण करना है (उद्धरेदात्मानात्मानम्) (६ : ५)। जब निम्नात्मा उच्च आत्मा के विधान से अनुशासित होती है तब उच्च आत्मा-रूपी भगवान् निम्न आत्मा-रूपी व्यक्ति का मित्र हो जाता है। अन्यथा ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति जो कुछ करने का सङ्कल्प करता है भगवान् उसे विफल कर देता है (वर्तेत आत्मैव शत्रुवत्)। भगवान् जब मानव से मैत्री कर लेता है तब उच्च आत्मा का दिव्यालोक, ज्ञानालोक, निम्न आत्मा के रोम-रोम को परिप्लावित कर देता है और तब अनायास ही महायोग उपस्थित हो जाता है। यहाँ मनस् और बुद्धि एक साथ हो जाते हैं और इन्द्रिय-जनित कामनाएं अपने-अपने *मूल-स्थान* को, स्रोत को लौट जाती हैं। आत्मा आत्मा द्वारा आत्मा को देखकर आत्मा में ही आनन्दित होती है (६ : १८, २०)। विषय-जगत् आत्मा में प्रतिबिम्बित होकर उससे अभिन्न दिखायी देता है और सब वस्तुओं के प्रति एक सुनिश्चित समदृष्टि ला देता है (६ : २९)। यह उच्चतम योग है जिस तक अपनी चैतन्य-शक्ति द्वारा पहुँचने की आशा की जा सकती है।

आत्मा, अब अपनी शक्ति के प्रति आश्वस्त

हो जाती है और महाकाव्य के, सागर को पार करते हुए वीर हनुमान् की भाँति अन्ततः उस परब्रह्म तक पहुँचने के लिए सत्ता के विस्तार में छलाँग लगाती है जो अभी तक ध्यानपरक चेतना के लिए 'अपर' ही बना हुआ है। जो नेत्रों को दिखायी देता है या जो अपरोक्ष है, वही सम्पूर्ण विश्व नहीं है; उसका विस्तार तो परोक्ष क्षेत्रों तक भी है। पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश—ये पञ्च-तत्त्व ब्रह्माण्ड का वाह्य परत बनाते हैं और इन्द्रियों को केवल यही ज्ञेय है (७ : ४); परन्तु स्थूल वस्तुओं के इन क्षेत्रों के अन्तर में ब्रह्माण्ड की ऊर्जा, मनस् और बुद्धि की अन्य सूक्ष्म परतें हैं जो व्यक्ति की इन्द्रियों और बुद्धि की पहुँच के बाहर हैं। विश्व-रचना की इन सूक्ष्म भूमियों से आगे सर्वशक्तिमय भगवान् है—समस्त प्राणियों के न्यायकर्त्ता, पापहर्त्ता और रक्षक (७ : ५-७)। विचित्रताओं और विविधताओं से पूर्ण भौतिक जगत्-रूपी इन्द्रिय ज्ञान के इस भ्रम का भेदन भगवत्कृपा के बिना कठिन है। सत्य के विषय में इस निविड़ अज्ञानता-व्याधि का अन्य कोई उपचार नहीं है (७ : १३, १४)।

इतना होते हुए इस अपराकृत अनुभव की अवस्था में भी भगवान् अपना सर्वातीत रूप बनाये रखते हैं और प्रतीत होता है कि साधक उसे अपने इस जीवन-काल में न पाकर शरीर त्याग के उपरान्त परलोक में पा सकता है। जीवात्मा (अध्या-

त्म) और जगत् (अधिभूत) दोनों ही परम सत्ता (अधिदैव) से इतने कटे हुए पृथक् दिखायी देते हैं कि मरणोपरान्त इस लोक से दूर उत्तरायण पथ पर चलकर ही उस तक पहुँचा जा सकता है (८ : ५, ६, ८, १२, १३, २४)। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव में परस्पर विभेद किया हुआ है (८ : ३, ४)। मृत्यु के क्षणों में जो विचार तथा जिस प्रकार का ध्यान-योग किया जाता है उसी के अनुसार वह उपलब्धि निर्धारित होती है जो साधक के जीवन में भविष्यता बनी रहती है। लक्ष्य का यह 'परत्व' जो भविष्यत् की सैद्धान्तिक सम्भावना बना रहता है किसी प्रकार भी सन्तोषप्रद नहीं हो पाता; क्योंकि चैतन्य के लिए सन्तोष 'वर्तमान' है 'भविष्यत्' नहीं। जिस प्रकार अतीत प्रायः अनुताप और क्लेश का कारण होता है उसी प्रकार भविष्यत् चिन्ताओं का। यह वर्तमान ही है जो मूल्यों के प्रतिफलन और सिद्धान्तों के कार्यान्वियन की आशा बँधाता है।

आशा पुरस्कृत होती है। अब उच्चतर स्तर पर होते हुए भी भगवान् जगतातीत नहीं रहता, प्रत्युत अपनी अन्तर्यामिता के कारण जगत् और जनता से उनके रक्षक और परित्राणकर्त्ता के रूप में सम्बन्धित हो जाता है (९ : ४)। वह समस्त सत्ताओं का जनक है, सभी की आवश्यकताओं का बड़ी ही अभिरुचि से ध्यान रखता है। वह समस्त जीवधारियों का गन्तव्य है—पारब्रह्म, शरणस्थल

और सखा। वह सबका आदि है, मध्य है और अन्त भी है। वह सत् ही नहीं असत् भी है, और इन दोनों से अतीत भी है। वह अमर्त्यता भी, मृत्यु भी तथा वह भी है जो सर्वदा कल्पनातीत है (९ : १६-१९)। मानव और भगवान् की आत्मीयता प्राणभूत और यथार्थ है। भगवान् अन्तर्व्यापिनी जीवन-शक्ति के रूप में अखिल विश्व में परिव्याप्त है। समस्त जीवधारी उसमें अवस्थित हैं और वह समस्त प्राणियों में है। यह नहीं कि वह साधकों को मृत्यु के उपरान्त ही प्राप्त होता हो, वह तो उन सभी के त्राण और आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए अविलम्ब तत्क्षण दौड़ आता है जो अपने अन्तःकरण में उसका अनन्य भाव से ध्यान करते हैं (९ : २२)। आत्मा जो अभी तक अपने और भगवान् के बीच की लोकातीत दूरी से भयभीत थी, उसके लिए यह बड़ी सान्त्वनाप्रद बात है। तथ्यतः भगवान् से अधिक निकट कुछ भी नहीं हो सकता। यही वह सिद्धि और सन्तोष है जो आध्यात्मिक अनुभव की इस उच्च-कृत भूमि पर प्राप्त होता है। यह अनुभव ज्यों-ज्यों गहरा होता जाता है, त्यों-त्यों एक नवलतर प्रकाश सत्य को और अधिक उद्भासित कर देता है और प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्भूत भगवान् के स्वरूप की सत्ता अधिकाधिक दैनिक अनुभव की वस्तु बन जाती है। वह वस्तुओं के अन्तर में उस सामान्य अर्थ में निहित नहीं है जिस अर्थ में अग्नि समस्त तत्त्वों में छिपी रहती है, प्रत्युत वह सभी प्रज्ञावान्,

शक्तिसम्पन्न और वैभवशाली प्राणियों में विशेष रूप से सक्रिय और मुख्य रूप से प्रव्यक्त दिखायी देता है (१० : ४१)। वह विश्वात्मा है, समस्त वस्तुओं का उद्गम, स्थिति और विलय है और महिमामयी वस्तुओं में दिखायी देने वाली महिमा है (१०: २०, २१)।

परन्तु आत्मतत्त्व और सत्ता तक को परिप्लावित करने के लिए महान् दिव्यान्तरण का अवरोहण अभी शेष है; क्योंकि इस अवस्था तक भगवान् की विद्यमानता या तो सामान्य प्रकार की थी या विशेष उदात्त और श्रेष्ठतम क्षमतायुक्त वस्तुओं में निहित थी। परन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि भगवान् अपने परम ऐश्वर्य और महिमा (विभूति) सहित प्रत्येक वस्तुओं में समान रूप से सर्वकाल सर्वत्र विद्यमान है। यह उसकी सारभूत प्रकृति और विश्वरूप है (११ : ५-१३)। भगवान् प्रत्येक वस्तु में है; यही नहीं प्रत्युत वह स्वयं सब कुछ है (११ : ३८)। यह दिव्य बोध है जो वैयक्तिकता, विशिष्टता और एकाकी जीवात्म-बोध को अभिभूत और स्वयं में विलय कर एक सत्य के रूप में विराजमान होता है। यह दिव्यानुभव केवल मानव-प्रयास से सम्भव नहीं है तथा न यज्ञ से, न वेदों के अध्ययन से और न दान, तप अथवा अन्य किसी प्रकार की क्रिया से ही सम्भव है (११: ४८)। कर्म किसी की 'सत्ता' को स्पर्श नहीं कर सकता और भगवान् परम निरपेक्ष सत्ता है। इस

सत्ताओं की सत्ता के ज्ञान प्राप्त करने की (ज्ञातुं), देखने की (द्रष्टुं) तथा उसमें प्रविष्ट होने की (प्रवेष्टुं) प्रक्रिया उसकी पूर्णरूपेण भक्ति है जिसके द्वारा साधक का अहं भी प्रभु की सर्वज्ञता की अग्नि में जल कर, दहक कर भस्म हो जाता है (११ : ५४)। यह महान् सत्य इन्द्रियगोचर नहीं होता, यह अनुभवगम्य है (११ : ८)। यही सत्य है और यही समस्त वस्तुओं का एकमात्र कर्त्ता, भोक्ता, द्रष्टा एवं अनुभवकर्त्ता है (११ : ३२-३४)। यही जीवन का गन्तव्य है।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक सन्दर्भ में

यह महा-उपलब्धि व्यक्तिगत साधना का सुफल है। ज्ञान, ध्यान, प्रेम और सेवा के रूप में साधना चतुर्धा है—ज्ञान (ब्रह्मज्ञान); सृजक, पालक और संहारक-स्वरूप परमात्मा का ध्यान; भगवत्प्रेम; तथा निःस्वार्थ भाव (कर्मफल-त्याग) से विश्वरूप भगवान् की सेवा। भगवान् तक पहुँचने के उक्त चार प्रकारों को ही पारिभाषिक शब्दों में ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म कहा गया है जिनका अर्थ क्रमशः ज्ञान, ध्यान, भक्ति और समर्पित कर्म है (१२ : ८-११)। इस साधनाभ्यास के कारण परम ब्रह्म परमेश्वर का दर्शन क्षणिक अथवा उस झलक जैसा नहीं रह जाता जो भावावेश के क्षणों में पल भर को दिखायी देता और लुप्त हो जाया करता है; प्रत्युत वह दिव्य दर्शन दैनिक जीवन के स्थायी अनुभव के रूप में परिणत हो जाता है। स्वयं को ईश्वर से एक करने की इन चारों विधियों की संश्लिष्ट पद्धति के अनुसार निरन्तर अभ्यास करने के कारण भगवद् चेतना में स्थायी अवस्थिति द्वारा इस धरती पर ही भागवत जीवन सम्भव हो जाता है (१२ : १३-१९)। आध्यात्मिक साधना का यह व्यक्तिगत पक्ष है। सामाजिक पक्ष की अधिक विवेचना विश्व-सापेक्षता

के सन्दर्भ में की जायगी।

साधारणतः विश्वास किया जाता है कि भगवान् और जगत् परस्पर विपरीत हैं और जो ईश्वर के सम्बन्ध में ठीक है वह जगत् के लिए सङ्गत नहीं हो सकता। शाश्वतत्व और अस्थायित्व में बिना जाने-बूझे अन्तर स्थापित कर दिया गया है। यह एक ऐसी स्थिति हो गयी है जिसके फल-स्वरूप आध्यात्मिक जीवन सामाजिक और राजनैतिक जीवन से विलग हो गया है। आध्यात्मिक नेता अब राजनीतिज्ञ अथवा राजनेता बनने योग्य नहीं समझे जाते और इसी प्रकार राजनीतिज्ञ और राजनेता भी आध्यात्मिक नेता होने योग्य नहीं समझे जाते।

श्रीमद्भगवद्गीता ईश और विश्व के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति बनी इस भ्रान्त धारणा का खुलकर खण्डन करती है। खण्डन वह आध्यात्मिक विवेक और सामान्य ज्ञान के भव्य सक्रिय व्यावहारिक दिव्य सन्देश द्वारा तो करती ही है साथ ही उसके लिए सोद्देश्य आधार भी भयावह समर-क्षेत्र बनाती है। अपने व्यक्तिगत जीवन में भगवद्गीता को किस प्रकार जिया जा सकता है, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त-स्वरूप श्रीकृष्ण स्वयं हमारे समक्ष हैं। ज्ञान, अध्यात्म-शक्ति, राजनीतिज्ञता, राजनैतिक अन्तर्दृष्टि तथा व्यक्तिगत गरिमा का क्या ही अद्भुत और परिपूर्ण समन्वय है! ऐसा व्यक्तित्व था श्रीकृष्ण का! अर्जुन के माध्यम से

उन्होंने अवसरानुकूल जो दिव्य सन्देश मानवता को दिया, उनका स्वयं का जीवन उस सन्देश की अक्षुण्ण व्याख्या है। जीवन पूर्णरूपेण परिपूर्ण है—जीवन का यह तथ्य प्रायः ऐन्द्रिय दृष्टिकोण द्वारा कुण्ठित हो जाने के कारण उस सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से ओझल रह जाता है जो जगत् को एक वस्तु समझता है और जगदीश को दूसरी। भगवद्-गीता में जो उपदेश तेरहवें अध्याय से आरम्भ होकर अठारहवें अध्याय में समाप्त होता है वह इसकी ही विवेचना है कि जो परम सत्ता (विश्वरूप) दृष्टि ग्यारहवें अध्याय में प्रकट हुई है और जिसमें संस्थित होने का मार्ग बारहवें अध्याय में खोजा गया है—वह संसार के दैनिक जीवन में व्यक्ति का एक मात्र पथ-प्रदर्शक कैसे बने। यहाँ भगवत्प्राप्ति विश्व-विधान को भङ्ग करने की अपेक्षा उसे ज्ञान के उस क्षेत्र में रूपान्तरित कर देती है जो पृथ्वी के अस्थायी विकास-क्रम में चैतन्य का एक शाश्वत अर्थ रोपित कर देता है। भगवान् और संसार एक दूसरे को नकारते नहीं, बल्कि मिलकर तत्त्वतः एक हो जाते हैं। जीवन्मुक्त का संश्लिष्ट और संपरिपूर्ण जीवन इस तथ्य का द्योतक है।

इस लक्ष्य की ओर उन्मुख हम क्षेत्रज्ञ (ज्ञाता) और ज्ञान के क्षेत्र (क्षेत्र) की प्रकृति में प्रवेश करते हैं। पदार्थ (जड़ प्रकृति) चैतन्य (पुरुष) का क्रिया-क्षेत्र है (१३ : १)। चैतन्य देह से भिन्न है और अन्य सब विषयों का तटस्थ साक्षी भी है।

यह चैतन्य सब वस्तुओं का सार्वभौम द्रष्टा भी है और इस प्रकार सर्वव्यापी है (१३ : २)। चैतन्य के क्रिया-क्षेत्र में भौतिक पदार्थों (विषयों) के रूप में वाह्य विश्व और मन-रूपी विषयी के रूप में हम सन्निहित हैं (१३ : ५, ६)। यद्यपि यह ज्ञान आरम्भिक स्तर पर पहले ही उस समय दिया गया था जब यह ज्ञात हुआ था कि प्रकृति के गुण उन्हीं गुणों में एक ओर इन्द्रिय तथा मन के रूप में और दूसरी ओर विषयों के रूप में सञ्चरित (वर्तन्त) होते हैं (तृतीय अध्याय), पर यहाँ वह एक महत्व-पूर्ण और नवीन अर्थ में आता है। यहाँ चैतन्य अपने विषयों से पृथक् केवल साक्षी ही अनुभूत नहीं होता, प्रत्युत वह विषय और विषयियों (ऐहि अर्थ में) दोनों को अतिक्रान्त करने वाला औ विषयों के सङ्ग अङ्गीय (जैविक) रूप में संग्रथि अनुभव किया जाता है। विषय और विषयिय *(Subjects and objects)* के भिन्न गुण वाले होते हु भी उनमें यह जैविक सम्बन्ध किस प्रकार सम्भ है—यह तभी स्पष्ट हो सकता है जब ये दो सापेक्ष शब्द निरपेक्ष ब्रह्म के दृष्टिकोण से दे जायें। ब्रह्म जिसे सत् या असत् किसी नाम अभिहित नहीं कर सकते, जो सर्वव्यापी है, अखि वस्तुओं में है, इतना ही नहीं प्रत्युत सब कुछ चल अचल, जड़-चेतन, सक्रिय-निष्क्रिय, दृश्य-अदृश्य व है (१३ : १२-१७)। चेतना के लिए समस पदार्थों को जिस प्रकार वाहर उसी प्रकार भीत

भी देखना इस कारण सम्भव है कि चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म बाहरी और भीतरी समस्त पदार्थों का सम्मिश्रण है, वह सब कुछ देखने, सुनने, जानने, ग्रहण करने और होने की क्रिया को समान रूप में युगपत् आवेष्ठित किये हुए है। यहाँ इस विस्मयकारिणी निष्पत्ति द्वारा ग्यारहवें अध्याय में प्रस्तुत 'विश्व-रूप' को व्यावहारिक स्पर्श दिया गया है। फिर भी इस संसिद्धि को शाश्वत बनाये रखने के लिए जिस आभ्यन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है वह ज्ञानजनित विनम्रता, अदम्भित्व, समस्त जीवों के प्रति निष्पक्ष आदर-भाव, निष्कपटता (आर्जव), आत्मविनिग्रह, समचित्तत्व, निर्जन-स्थान सेवन की अभिरुचि, सत्य-निष्ठा को सुदृढ़ बनाने वाली ज्ञान-दीप्ति के अन्वेषण जैसे नीतिमूलक अध्यात्मपरक सद्‌गुणों के अभ्यास में निहित है (१३ : ७-११)।

इस ज्ञान-दीप्ति पर पुनः अभिनव प्रकाश डाला गया है। प्रकृति-स्वरूप विश्व स्थूल तत्त्वों या मूर्त्त पदार्थों से विरचित नहीं है, वह तत्त्वतः शक्ति और ऊर्जा (गुणों) की गति है। ये शक्तियाँ (गुण) भी ऐसी वस्तुएँ नहीं जिनका इन्द्रियों से दिखायी देने वाले किसी भी रूपाकार से साम्य हो सके। वे अतीन्द्रिय हैं, अतः इन्द्रियों के दृष्टिकोण से यथार्थतः 'अतात्त्विक' हैं। वे कुछ ढंग विशेष से कार्य करती हैं और उनका कार्य ही ऐन्द्रिय ग्राह्य विश्व के रूप में प्रतीत होता है। सार्वभौम ऊर्जा की क्रिया-प्रणाली त्रिविधा है : यथा गत्यात्मक

(क्रियाशील), जड़ (अक्रिय) और सम। ये ही क्रमशः रजस्, तमस् और सत्त्व कही जाती हैं (१४ : ५)। यह ऊर्जात्रयी चैतन्य को राग, मोह और ज्ञान के अनुभवों में बांधती है। इन शक्तियों का मिलना और पृथक् होना ही प्राणियों का संयोग और वियोग है (१४ : ६-८)। इस अवसर पर जब ज्ञानोदय होता है तब व्यक्ति संसार को किसी भी प्रकार के व्यवहार का विषय-स्वरूप न देखकर उसे शक्तियों के एक ऐसे सागर के रूप में देखता है जिसमें बाह्यता और आभ्यन्तरता का भेद नहीं है। शक्तियों का आवागमन, उनका संयोग-वियोग अब इस प्रबुद्ध व्यक्ति की दृष्टि में भिन्न नहीं रह जाते। कोई भी भौतिक जगत् उसकी चेतना में बाधक अथवा उसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। ब्रह्माण्डीय शक्तियों (गुणों) पर ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) क्रियाशील होता है। जो उन शक्तियों के क्रिया-क्षेत्र का अतिक्रमण कर लेता है, वह गुणातीत हो जाता है, क्षेत्रज्ञ विश्व-नियन्ता-रूप हो जाता है और कर्म-क्षेत्र (क्षेत्र) केवल एक नाम मात्र रह जाता है जो प्राकृतिक शक्ति के रूप में चैतन्य के प्रव्यक्त होने की विधि को दिया जाता है। सर्वज्ञाता, जो सम्प्रति व्यक्तिगत द्रष्टा नहीं रह जाता, स्वयं अपनी ही नियति का नहीं वरन् उस समय जो कुछ जहाँ कहीं भी होता है, उस समस्त का भाग्यविधाता बन जाता है। वह न तो किसी कारण आह्लादित होता है, न क्लेदयुक्त और न अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से वह

किसी कार्य को आरम्भ करता है, प्रत्युत ब्रह्माण्ड (विश्व) का सहकर्मी बन जाता है (१४ : २२-२६)।

ऐसा विशिष्ट गुण-सम्पन्न व्यक्ति ही भगवान् का वास्तविक प्रतिनिधि (पुरुषोत्तम) होता है (१५ : १८)। श्रीकृष्ण इस प्रकार के पुरुषोत्तम के दृष्टान्त थे जो बाह्यत्व के स्वरूपों को, चाहे वह द्रष्टा हो चाहे दृश्य, अतिक्रमण करके व्यक्तिगत गुणों की सीमा से बाहर की कोटि में आते हैं। वे वस्तुतः विश्व में विचरण करते हुए नर में नारायण हैं। इस स्थल पर हमें गीता द्वारा प्रस्तुत उपदेश का पूर्ण चित्र मिलता है—मानवता को दैवत्व पद पर आरूढ़ करके मानव को समस्त लोकों में सर्वथा मुक्त कर देना। सर्वज्ञान और सर्वशक्ति उसकी विशेष विभूतियाँ हैं। यहाँ दैवी और आसुरी शक्तियों (सम्पद्) की द्वैतता से सीधा सामना होता है तथा उनका सदैव के लिए निराकरण हो जाता है। सत् और असत् (जिनसे हम प्रायः परिचित हैं) के रूप में दैवी और आसुरी केवल नैतिक विलोम नहीं हैं, प्रत्युत धनात्मक और ऋणात्मक ध्रुवों के सृजन-बिन्दु का प्रथम दोलन है जो सत्ता के शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक—इन समस्त क्षेत्रों पर प्रभुत्व जमा लेता है। सृष्टि में दैवी और आसुरी तत्त्व के रूप में विज्ञात शक्तियों के इस ध्रुवत्व को पूर्णतः अधिगत कर उसे अशेष पूर्णत्व में परिवर्तित कर दिया जाता

'ओ३म् तत् सत्' उच्चतम संश्लिष्ट जीवन की प्रबुद्ध अभिवृत्ति का प्रतीक है (१७ : २३)। 'तत्' पारब्रह्म है। अन्तर्यामी के रूप में वह 'सत्' है और अपनी सर्वव्यापकता में इन दोनों के विलयन से 'ओ३म्' है। आत्म-चैतन्य ज्यों-ज्यों पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है उसमें आत्मतत्त्व की एकरूपण, विश्वव्याप्ति और अन्तर्मुखीनता की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है। 'सत्त्व' की ब्रह्माण्डीय साम्यावस्था में प्रकृति-रूपी जड़ पदार्थ की त्रिदलीय शक्ति परब्रह्म परमात्मा-स्वरूप भगवान् में प्रविष्ट होती है। यहाँ चैतन्य पूर्णता प्राप्त कर जीव के मूल तत्त्व में पूर्णता देखता है।

संसार में इस ज्ञानोद्दीपन का जीवन व्यतीत करते समय विवेक, सङ्कल्प, भावना और कर्म को यथोचित महत्व देते हुए सर्वतोमुखी सुसङ्गत जीवन की सम्पूर्णता आध्यात्मिकता को विश्व-प्रक्रिया की व्यक्तिगत, सामाजिक, लौकिक और अलौकिक भूमियों में विश्व के अनुकूल बना देती है। स्वयं अपने प्रति कर्त्तव्य 'तपस्' है, संसार और इतर व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य 'दान' (परोपकार) है तथा भगवान् के प्रति कर्त्तव्य 'यज्ञ' (आत्मार्पण) है। ये तीन कर्त्तव्य (दायित्व) अलंघ्य हैं (१८ : ५)। कर्त्तव्य पालन में अनुपात रखना ही जीवन में पूर्णता का आरम्भ है। सब सत्ताओं (भूतों) में अविनाशी (अव्यय) आधार-रूप में उस अकेली सत्ता को, जो जगत् के पदार्थों में विभक्त होकर

विद्यमान है, अविभाज्य रूप में देखना पूर्ण (सात्त्विक) ज्ञान है (१८ : २०)। वाह्य सम्बन्धों से जुड़े होने पर भी वैविध्य देखना अपूर्ण ज्ञान है (१८ : २१)। किन्तु किसी एक ही पदार्थ को यह समझकर अपनाना कि यही सब कुछ है— ज्ञान का निम्नतर प्रकार है। यह मन में आसक्ति और भ्रान्ति उत्पन्न करता है और सत्य से बहुत दूर है (१८ : २२)। मानव-बुद्धि के दार्शनिक आधार की यह चरम व्याख्या है। नैतिक सन्दर्भ में बुद्धि का वही रूप सम्यक् माना जाता है जो वस्तुओं के गुणावगुण सही रूप में जानता हो, अर्थात् जिसे ज्ञात हो कि किस परिस्थिति में क्या उचित है और क्या अनुचित तथा उसके लिए और दूसरों के लिए भी क्या बन्धनकारक है और क्या मुक्तिकारक (१८ : ३०)। अपूर्ण बुद्धि धर्म और अधर्म के दृष्टिकोणों का अन्तर नहीं समझ पाती और उन्हें अनुचित महत्व देती है (१८ : ३१)। इस प्रकार की बुद्धि जो अधर्म को धर्म समझ लेती है तथा जीवन के प्रत्येक सन्दर्भ और स्थिति का गलत अर्थ लगा लेती है, सब से अधम होती है (१८ : ३२)।

परम सत् पर ध्यानावस्थित होने के कारण जिस सङ्कल्प-शक्ति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रिय शक्ति की वहिर्मुखी वृत्तियों का संयमन होता है, वह पूर्णकृत धृति है (१८ : ३३)। जो इच्छा-शक्ति व्यक्तिगत लाभ हेतु सक्रिय है और स्वयं को इच्छा-पूर्त्ति में, भौतिक लाभ प्राप्ति में लगाये

रखती है और इन लक्ष्यों की पूर्त्ति हेतु एक अच्छा सद् प्रयत्न करती प्रतीत होती है, वह अपूर्ण धृति है (१८ : ३४)। जो इच्छा-शक्ति अपने में स्वयं को आलस्य, भय, शोक, विषाद और दम्भ से मुक्त करने की क्षमता नहीं पाती, वह निम्नतम धृति है। उत्कृष्ट प्रकार के सुख का भाव प्रायः अन्त में आता है। यद्यपि उसे प्राप्त करने के प्रयत्न कष्टप्रद और अप्रिय लगते हैं, परन्तु व्यक्तित्व को स्थायित्व देने वाले विशुद्ध आनन्द की यही विशेषता है (१८ : ३७)। विषयों से इन्द्रियों के सम्पर्क की अविराम क्रिया के कारण जो सुख प्रारम्भ में विमुग्धकर प्रतीत होता है, वह अपूर्ण प्रकार की भावना से उत्पन्न होता है (१८ : ३८)। परन्तु सुख की जो भावना भ्रान्तिमूलक है और हीन प्रवृत्तियों की सक्रियता के परिणाम-स्वरूप प्रमत्तकारी तथा साथ ही शिथिलता एवं तन्द्रायुक्त होने से अनेक अनर्थों का कारण हो जाती है—वह भावना निकृष्ट तुष्टि है (१८ : ३९)।

आचरण की वह प्रक्रिया जो किसी भी दिशा का मार्ग चुनते समय पाँचों कारणों यथा दैहिक स्वास्थ्य, मानसिक योग्यता, साधनों की उपयुक्तता, कार्य-प्रणाली के विविध विकल्प और सर्वोपरि दैवी विधान जो सब पर लागू होता है—ध्यान में रखती और स्वयं को सांसारिक प्रयत्न के केवल प्रकट पक्ष के प्रति ही श्रद्धा-भाव से नहीं बाँधती—वह पूर्णकृत कर्म है (१८ : १४)। जब समस्त कार्य-

प्रणाली की व्यवस्था करने वाले इन्द्रियातीत भागवत तत्त्व की उपेक्षा कर ऐहिक तथ्यों पर ही बल दिया जाता है तब कर्म त्रुटिपूर्ण हो जाता है जो अज्ञानजनित इस अहं भाव की ओर ले जाता है कि व्यक्ति और विशिष्ट सत्ता होने के नाते वह स्वयं ही कार्य का वास्तविक कर्त्ता है (१८ : १६)। जो कर्म वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष की भावना में बद्धमूल नहीं है तथा जिसके द्वारा कर्म के कर्तृत्व की मिथ्या धारणा से बुद्धि भ्रमित नहीं होती, वह विशुद्ध कर्म है। वह कर्त्ता के बन्धन का कारण नहीं होता है; ऐसा कर्म 'सत्त्व' अर्थात् ज्ञान जनित है (१८ : १७, २३)। जिस कार्य में श्रम और प्रयत्न अधिक लगता है, थकान का कारण होता है तथा कामनाओं और अहङ्कार द्वारा उत्पन्न चिन्ता का कारण हो, वह कार्य 'रजस्' अर्थात् अवरोध और अधीरता का परिणाम है (१८ : २४)। जो परिस्थिति में अन्तर्निहित कारणों के गुणावगुण और प्रासंगिकता की उपेक्षा करता है तथा उस स्थिति से दूसरों को जो कष्ट और असुविधा हो रही है, उस पर ध्यान नहीं देता तथा कार्य को सम्पन्न करने की अपनी क्षमता के प्रति अविवेकी है और उसे आद्यान्त गलत बनी हुई धारणा से उत्पन्न स्वार्थ पूर्ति की दृष्टि से ही देखता है, ऐसा कर्म 'तामस्' या मूढ़ता से उद्भूत है (१८ : २५)।

रखती है और इन लक्ष्यों की पूर्त्ति हेतु एक अच्छा सद् प्रयत्न करती प्रतीत होती है, वह अपूर्ण धृति है (१८ : ३४)। जो इच्छा-शक्ति अपने में स्वयं को आलस्य, भय, शोक, विषाद और दम्भ से मुक्त करने की क्षमता नहीं पाती, वह निम्नतम धृति है। उत्कृष्ट प्रकार के सुख का भाव प्राय: अन्त में आता है। यद्यपि उसे प्राप्त करने के प्रयत्न कष्टप्रद और अप्रिय लगते हैं, परन्तु व्यक्तित्व को स्थायित्व देने वाले विशुद्ध आनन्द की यही विशेषता है (१८ : ३७)। विषयों से इन्द्रियों के सम्पर्क की अविराम क्रिया के कारण जो सुख प्रारम्भ में विमुग्धकर प्रतीत होता है, वह अपूर्ण प्रकार की भावना से उत्पन्न होता है (१८ : ३८)। परन्तु सुख की जो भावना भ्रान्तिमूलक है और हीन प्रवृत्तियों की सक्रियता के परिणाम-स्वरूप प्रमत्तकारी तथा साथ ही शिथिलता एवं तन्द्रायुक्त होने से अनेक अनर्थों का कारण हो जाती है—वह भावना निकृष्ट तुष्टि है (१८ : ३९)।

आचरण की वह प्रक्रिया जो किसी भी दिशा का मार्ग चुनते समय पाँचों कारणों यथा दैहिक स्वास्थ्य, मानसिक योग्यता, साधनों की उपयुक्तता, कार्य-प्रणाली के विविध विकल्प और सर्वोपरि दैवी विधान जो सब पर लागू होता है—ध्यान में रखती और स्वयं को सांसारिक प्रयत्न के केवल प्रकट पक्ष के प्रति ही श्रद्धा-भाव से नहीं बाँधती—वह पूर्णकृत कर्म है (१८ : १४)। जब समस्त कार्य-

ज्ञान का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

प्रकृति के गुण—सत्त्व, रजस् और तमस्—व्यक्ति में ही नहीं समाज में भी विभिन्न अनुपात में कार्य करते हैं। वे कुछ विशेष व्यक्तियों में ही नहीं, व्यक्तियों के समूह अर्थात् सामाजिक सङ्गठनों में भी क्रियाशील रहते हैं। समाज में ये गुण जन-सम्पर्कों के रूप में कार्य करते हैं और व्यक्ति में मनोवैज्ञानिक उत्प्रेरणा, प्रेरक-शक्ति और अनुभव की अवस्थाओं के रूप में क्रियाशील रहते हैं। समाज मुख्यतः व्यक्तियों के बीच स्थापित सम्बन्धों की एक व्यवस्था है। ये सम्बन्ध भी, जो व्यक्तियों को सामाजिक बन्धन में बाँधते हैं, इन्हीं गुणों से विनिर्मित हैं। प्रत्यक्ष अथवा कल्पनीय जो कुछ भी पृथिवी अथवा स्वर्ग में है, वह सब कुछ इन गुणों के चंगुल में है (१८ : ४०)। हम सृष्टि में जो अगणित विविधता देखते हैं, वह इन्हीं गुणों का कार्य है। ये गुण विश्व की रचना करने वाली नीवँ की ईंट हैं। मानव-समाज उन व्यक्तियों के समुदाय से बना है जो किसी एक उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर मिले हैं। मनुष्य एक दूसरे के प्रति जैसा मनोभाव (अभिवृत्ति) बनाते हैं, वह इन गुणों के प्रवर्तन के अनुसार ही बनता है। अभिवृत्ति विधि अनुपात में सत्त्व, रजस् अथवा तमस् गुण-युक्त यथा शान्त,

विघ्नकारक अथवा उग्र हो सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञान में भी क्रिया रूप में गुण गुण पर हावी होता है। यह विषयी द्वारा विषय को देखना नहीं है, बल्कि गुणों का वहिर्गत रूप से दिक्काल में स्वयं का अवलोकन है।

जीवन में ज्ञान, क्षमता या आचरण का कोई सुनिश्चित प्राकट्य प्रकृति के किसी गुण विशेष की प्रधानता का अभिव्यक्तिकरण है। गुणों का यह प्राबल्य ही समूह, समुदाय और यहाँ तक कि राष्ट्र को भी बनाने वाला है, उसके लिए उत्तरदायी है। व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा स्वार्थ की पूर्त्ति हेतु समाज बनाते हैं। समान प्रकृति के लोग एक साथ एकत्र हो जाते हैं। सामाजिक प्राणी के रूप में कोई नहीं जन्मा है। जन्म के समय कोई भी किसी अन्य का नहीं होता है। सम्बन्ध तो उसके उपरान्त गुणों के शरीर, इन्द्रिय और मनस् के माध्यम से द्रुतगति से क्रियाशील होने पर प्रारम्भ होते हैं। मानव की जन्मजात कमियाँ और दुर्बलताएँ दूसरों के सहयोग विना जीवन-यापन दुर्वह कर देती हैं। मानव-स्वभाव की प्रमुख दुर्बलता स्वार्थपरता है। यह कोई भी रूप ले सकती है, यथा दूसरों पर हावी होने की इच्छा, दूसरों के शोषण की इच्छा, दूसरों के सङ्ग कुटिलतापूर्ण व्यवहार करने की और अन्ततः दूसरों से युद्ध करने की इच्छा का। द्वन्द्व तत्त्वतः अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं के महत्व और अस्तित्व को सम्मान न देने से उत्पन्न

परिसीमित नहीं कर लेना चाहिए। अखिल सृष्टि एक समाज है और वर्ण तथा आश्रम के अनुसार हमारा कर्त्तव्य केवल इस पृथ्वी के पदार्थों तक नहीं, वरन् अखिल विश्व के पदार्थों से सम्बन्धित है। इस धारणा के प्रकाश में सार्वभौम परिवेश की इस विशाल व्यवस्था में हममें से प्रत्येक को अपनी क्षमता और ज्ञान के अनुसार सर्वोत्तम विधि से सबके कल्याण और हितार्थ क्रमशः अपने कर्त्तव्यों के पालन और एक-दूसरे के प्रति परस्पर अपने दायित्व को पूर्ण करने की आवश्यकता सुस्पष्ट हो जाती है। यह सार्वभौम कर्म की भावना ही है जिसके द्वारा परम सत्ता परमेश्वर की आराधना की जा सकती है (१८ : ४६)। अतः प्राप्त संसिद्धि को सामाजिक जीवन में प्रव्यक्त होना चाहिए। सामाजिक कर्त्तव्य की इस विशिष्ट सङ्कल्पना में व्यक्ति, समुदाय, राष्ट्र, जगत् और अखिल विश्व उस ब्रह्म से एकाकार हो जाते हैं जो सत्य के इन सभी स्तरों में इन स्तरों द्वारा देखा जा सकता है। अपने परस्पर परम सम्बद्धता के रूप में वैश्व यज्ञ यही है। यही वह कर्त्तव्य है जो अपनी व्यापकता में सर्वोत्कृष्ट है (३ : ९-१६)।

भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में गीता का चरम उपदेश है जिसमें भगवत्प्राप्ति के लिए अपेक्षित कर्त्तव्यों यथा वैयक्तिक कर्त्तव्य (१८ : ५, १४, २०, ३०, ३३, ३७), सामाजिक दायित्व (१८ : ४१-४६, ७८), प्राकृतिक विधान (१८ : ४०)

और आत्मिक अनुशासन (१८ : ४९-५५, ६१, ६२) का समाहार है। इस प्रकार जीवन तक पहुँचने के जिस संश्लिष्ट पथ का इसमें सङ्केत दिया गया है वह संसिद्धि की ओर चैतन्य के आरोहण के अठारह सोपानों में वर्णित योग के महा-सन्देश की ओर निर्देश करता है। सार्वभौम एकता को प्राप्त करने के परम कर्त्तव्य के प्रति समर्पित होने पर समस्त सापेक्षिक कर्त्तव्यों के परित्याग (१८ : ६६) और विश्व के दैनिक जीवन में सार्वभौमिक और व्यक्तिगत गुणों के सुसम्मिश्रण (१८ : ७८) की माँग इस अति महान् उपदेश के उच्च स्तरीय प्लावन को शमित कर देती है। जिस प्रकार जाग्रतावस्था के बोध में स्वप्न के प्रत्येक कार्य, सम्बन्धता और महत्ता का परित्याग, किसी सारगर्भित और अर्थपूर्ण वस्तु का त्यागना न होकर महत्तर सत्य में विकास है, उसी प्रकार इन्द्रियातीत सर्वजनीनता की भावना में सांसारिक मूल्यों, सम्बन्धों और कर्त्तव्यों का समर्पण, वास्तविक और महत्वपूर्ण वस्तु के परित्याग की अपेक्षा परम सत्य में प्रवेश है। मानव-जीवन की परम विरासत, कर्त्तव्य और लक्ष्य का मर्म अन्तिम अध्याय के छासठवें श्लोक के शाश्वत सन्देश में निहित है। और दिव्य कथन जिस अन्तिम शिक्षा के साथ समाप्त होता है वह श्रीमद्-भगवद्गीता-मालिका में सुमेरुवत् दीप्तिमान् है; यथा—'जहाँ कहीं ब्रह्म और सापेक्ष का, ज्ञान और

कर्म का तथा भगवद्-कृपा और प्रयत्न का सचेत और ऐच्छिक संयोग है, वहाँ निस्सन्देह श्री, विजय, आनन्द और स्थायी राजतन्त्र है—जीवन के समस्त मूल्य अपने रूप-महिमा मण्डित उच्चता के श्रेष्ठतम रूप में विद्यमान हैं।'

कर्म का तथा भगवद्-कृपा और प्रयत्न का सचेत और ऐच्छिक संयोग है, वहाँ निस्सन्देह श्री, विजय, आनन्द और स्थायी राजतन्त्र है—जीवन के समस्त मूल्य अपने रूप-महिमा मण्डित उच्चता के श्रेष्ठतम रूप में विद्यमान हैं।'

उपसंहार

प्रयत्न किसी प्रकार के हों, सभी में तीन अवस्थाएं होती हैं : सिद्धान्त, अभ्यास और उपलब्धि। उपनिषद् और गीता चैतन्य की इन तीनों प्रक्रियाओं पर रीतिबद्ध ग्रन्थ हैं, विशेषकर गीता जो इस परियोजना के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या (परम सत्य का विज्ञान), योगशास्त्र (आत्मानुशासन एवं योगाभ्यास) तथा कृष्णार्जुन संवाद (व्यष्टि और पार्थिव का समष्टि और शाश्वत से संयोग) के नाम से अभिहित है। सत्य के अन्वेषक को उतावला नहीं होना चाहिए। प्रथमतः उसे, जिन सिद्धान्तों पर अपने प्रयत्नों को निर्मित करना है, उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने विचारों को समझना और न्यस्त करना होगा। द्वितीयतः उसे इन व्यवस्थित सिद्धान्तों को अपनी सत्ता और क्रिया के मुख्य उपादानों की भाँति अपने व्यक्तिगत जीवन में रोपना होगा और उनके द्वारा अपने दैनिक जीवन को पूर्व विवेचित और चेतना में अवस्थित मूलभूत सिद्धान्तों में ढालना होगा। तृतीयतः अनुगामी परिणाम की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी होगी, चाहे प्रयत्न के फलन में कितना ही समय क्यों न लगे। लेकिन इसका ध्यान भी रखना होगा कि अभ्यास सर्वथा त्रुटिहीन, रागहीन और मुख्य लक्ष्य से

असम्बन्धित सभी दूरस्थ कारणों से रहित हो, तथा इसपर भी ध्यान देना होगा कि व्यवहार्य प्रक्रिया में निहित सिद्धान्त व्यक्ति की सत्ता में सचमुच सम्पृक्त हो जाय। इन शर्तों के पूर्ण होने पर लक्ष्य प्राप्ति उसी प्रकार सुनिश्चित है जिस प्रकार वृक्ष पर ही क्रमशः बढ़कर तैयार होते हुए फल का परिपक्व होना।

सबसे महान् दान | ज्ञान का दान

ज्ञान—यज्ञ

(आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार)

श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज मानवता की सेवा के लिए करीब पचीस साल तक इस महान् यज्ञ को करते रहे थे।

तथा उन्होंने आपको सुअवसर प्रदान किया जिससे कि आप ईश्वरीय कृपा, महिमा तथा आशीर्वाद को प्राप्त करें।

स्वामी जी की बहुत सी पुस्तकें अभी तक अप्रकाशित हैं। अपने धर्म-धन के द्वारा आप उन पुस्तकों में से किसी को भी अपने नाम से छपवा सकते हैं। लाखों इससे लाभ उठायेंगे।

एक पुस्तक को छपवाने में लगभग खर्च ५००) रु० से २०००) रु० तक होगा। विशेष जानकारी के लिए नीचे के पते पर लिखिए :—

सेक्रेटरी, दिव्य जीवन संघ, शिवानन्दनगर,
जिला टिहरी-गढ़वाल (उ० प्र०)।